विचार और वितर्क

हजारीप्रसाद द्विवेदी

सुषमा साहित्य मंदिर प्रकाशन

प्रथम संस्करण : सं० २००२ वि.

मूल्य तीन रुपये

प्रकाशक : सुषमा-साहित्य-मन्दिर, जवाहरगंज, जबलपुर.
मुद्रक : पं० बलभद्रप्रसाद मिश्र, स्वस्तिक प्रेस, जबलपुर.

भाई मोहनलाल वाजपेयी को

भूमिका

'विचार और वितर्क' भिन्न-भिन्न अवसरों पर लिखे हुए निबन्धों का संग्रह है। सभी निबन्ध एक ही जाति के नहीं हैं परन्तु प्रायः सबका केन्द्रीय विषय साहित्य ही है। कुछ लेखों को यदि मुझे फिर से लिखना पड़ता तो परिवर्तन भी करना पड़ता, परन्तु सब मिलाकर पुस्तक में जो विचार प्रकट किए गए हैं उनके विषय में नये सिरे से कुछ जोड़ने-घटाने की आवश्यकता नहीं मालूम पड़ी। वे प्रायः ज्यों के त्यों छप रहे हैं। इन एकत्र संगृहीत लेखों से यदि पाठकों का मनोरंजन हुआ तो इनका छपना सार्थक कहा जा सकता है।

एकाध लेख व्योमकेश शास्त्री के हैं। फ़िलहाल वे मेरे ही नाम छप रहे हैं क्योंकि जिन मित्रों की प्रेरणा से ये लेख संगृहीत हुए हैं उनका पक्का मत है कि शास्त्री जी के विचार और हजारीप्रसाद द्विवेदी के विचार वस्तुतः एक ही हैं। मैंने मित्रों के मत में शंका करना उचित नहीं समझा।

मैं सुषमा-साहित्य-मन्दिर के पुजारियों का अत्यन्त अनुगृहीत हूँ। उन्होंने ही इन पुराने पत्रों को पूजोपयोगी मानकर इनका गौरव बढ़ाया है।

हिन्दी-भवन,
शान्ति-निकेतन
१०-८-४५

हजारीप्रसाद द्विवेदी

क्रम

विचार और वितर्क

१

वैष्णव कवियों की रूपोपासना

सुन्दर मुख की बलि बलि जाउँ ।
लावन-निधि, गुन-निधि, शोभा-निधि,
निरखि निरखि जीवत सब गाउँ ॥
अङ्ग अङ्ग प्रति अमित माधुरी
प्रगटित रस रुचि ठाउँ ठाउँ ।
तामें मृदु मुसकानि मनोहर
न्याय कहत कवि मोहन नाउँ ॥
नैन सैन दै दै जब बोलत
ता पर हौं बिन मोल बिकाउँ ।
सूरदास - प्रभु मदन मोहन छबि
यह शोभा उपमा नहिं पाउँ ॥

सूरदास के प्रभु की इस मदन मोहन छबि की उपमा सचमुच संसार में नहीं है । भक्त केवल उस 'कुटिल बिथुरे कच' वाले मुख के ऊपरी

सौंदर्य पर ही इतना अधिक भाव-मुग्ध हुआ हो, यह बात संसार की साधना में अद्वितीय है। यह भाव एकमात्र भारतीय वैष्णव कवियों की साधना में सर्व-प्रथम और शायद सबसे अन्त में, अभिव्यक्त हुआ है। वैष्णव कवियों को दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। एक में वे भक्त हैं जो भक्त या साधक पहले हैं, कवि बाद में। दूसरी श्रेणी में उन कवियों को रखा जा सकता है जो कवि पहिले हैं भक्त बाद में। सूरदास और तुलसीदास पहिली श्रेणी में आते हैं; देव, बिहारी और मतिराम दूसरी में। सूरदास उपरिलिखित भजन में कहते हैं कि इस 'लावण्यनिधि' शोभानिधि, गुणनिधि' गोपाल को कवि 'मोहन' कहते हैं, यह बात उचित ही है। पर स्वयं सूरदास, कवि की उक्ति तक ही आकर नहीं रुक सकते, वे साधक हैं, वे आगे बढ़ते हैं—'नैन सैन दै दै जब बोलत ता पर हौं बिन मोल बिकाउँ!' कवि और साधक वैष्णव यहीं आकर अलग हो जाते हैं। कवि इस रूपातीत को एक नाम देकर, एक मोहक आख्या देकर, अपने कवि स्वभाव के औचित्य की सीमा तक जाकर रुक जाता है। साधक आगे बढ़ता है और उत्सर्ग कर देता है अपने को उस मनोहारी सैन पर, उस रमणीय बोल पर—सो भी बिना मोल!

वैष्णव कवियों के इन दो रूपों को न समझने के कारण आज का समालोचक नाना प्रकार की कटूक्तियों से साहित्यिक वातावरण को क्षुब्ध कर रहा है। आज के कार्यबहुल काल में मनुष्य की ललित भावनाएँ खण्ड-भाव से प्रकट हो रही हैं। किसीको इस समय एक समग्र साहित्य को न तो समझने की फुरसत है और न रचना करने की। काव्य में यह लिरिक् का युग है, कथा में छोटी कहानी का और चित्रकला में विच्छिन्न चित्रों का, पर इसलिये इन विच्छिन्न चेष्टाओं को विच्छिन्न भाव से देखना तो वास्तविक देखना नहीं है। इस युग की काव्य-चेष्टा को समझने के लिये अतीत युग की काव्य-चेष्टा का ज्ञान आवश्यक है। इस देश का साहित्य समझने के लिये देशान्तर के साहित्य को समझने की ज़रूरत है—विच्छिन्न काव्य-चेष्टा के वर्तमान युग को समझने के लिये

देशान्तर और कालान्तर नितान्त आवश्यक हैं। पर प्राचीन युग के साहित्य को समझने के लिये केवल प्राचीनतर साहित्य ही आवश्यक नहीं है, आधुनिक मनोवृत्ति का अध्ययन भी आवश्यक है। हमें अगर सूरदास या नन्ददास को समझना है तो उसका प्रधान उपकरण हमारी आधुनिक मनोवृत्ति है। इस मनोवृत्ति से उस युग की मनोवृत्ति का ठीक मेल नहीं भी हो सकता। आज सौन्दर्य और लालित्य का स्टैण्डर्ड बदल गया है। इस मानदण्ड से प्राचीन लालित्य को समझना सब समय सुलभ नहीं हो सकता। इस मनोवृत्ति को लेकर अगर प्राचीन कविताओं का अध्ययन किया जायगा, तो अनर्थ की सम्भावना है। उपनिषद् के एक मन्त्र में कहा गया है 'आत्मा को जानकर परमात्मा को जानना चाहिए।' इस कथन को बदलकर कहा जा सकता है कि अभिनव मनोवृत्ति को समझ कर प्राचीन मनोवृत्ति को समझना चाहिए।

मि० रोसेनकोपे ने सन् १९१४ में (Lectures on Aesthetics, London University) कहा था कि 'सन् १८६० ई० से इंग्लैण्ड के सर्व साधारण का चित्त परियों के रम्य लोक से हटकर सरल सहज कल्पना और मानवता की ओर अग्रसर हुआ है।' इस वक्तव्य को कुछ बदलकर भारतवर्ष के बारे में भी कहा जा सकता है। कम से कम इस शताब्दी में भारतीय चित्त भी कृष्ण और राधिका के विचारललित और भाव-मधुर गोलोक से उतरकर सहज मानव-गृह की ओर गया है। वस्तुतः आज भारतवर्ष का चित्त भी संसार के अन्य देशों की तरह एक महा परिवर्तन की ऊर्मि-प्रत्यूर्मि से आन्दोलित हो उठा है। एक ही साथ इस देश में इतने तरह की विचार धाराएँ आ टकराई हैं कि उनके आवर्त-दुर्धर तरङ्गराजि में भारतीय चित्त कुछ हतबुद्धि सा हो गया है। यूरोप में चौदहवीं शताब्दी में ही मानवचित्त स्वर्ग से हट कर मर्त्य की ओर अग्रसर हो गया था। मर्त्य की ओर आकर भी वह एक बार विस्मृत परी-लोक की ओर धावित हुआ था। बीच में उसे तैयार होने का पर्याप्त अवसर मिला था। परन्तु यह सौभाग्य भारतवर्ष को न प्राप्त हो सका।

एक ही साथ इतने वादों की बाढ़ यहाँ आई कि आज का नव-शिक्षित समालोचक चकित-थकित की भाँति कर्तव्य-मूढ़ हो उठा है।

भारतीय समालोचक एक बार टेनिसन जैसे धार्मिक-भावापन्न कवि की कविता से मुग्ध होकर वैष्णव कवियों की ओर प्रश्न-भरी दृष्टि से देखता है, एक बार कीट्स की अस्तमित-तत्त्वा आनन्दमयी उक्तियों से चकित होकर देव और बिहारी में उस भाव को खोजता है, एक बार ब्राउनिंग के तत्त्व-गम्भीर आख्यान-काव्यों का आनन्द लेकर कबीर और दादू की ओर दौड़ता है, एक बार ईसाई भक्तों की गलदश्रु-भावुकता से विमुग्ध होकर रसखानि और घन आनन्द की ओर ताकता है और अंत में सर्वत्र निराश होकर क्षुब्ध हो उठता है। नवीन आलोचक इस महा विकट युग में सबसे अधिक रूप के भीतर अरूप की सत्ता खोजने में अपना समय नष्ट करता है। पर हाय, नाना अभिनव वादों के तरंगाघात से जर्जर उसकी चित्त-तरी अधिकाधिक भ्रान्त हो उठती है!

एकबार इंग्लैण्ड में ग्रीक नाटकों के विरुद्ध प्रबल आन्दोलन हुआ था। कहा गया था कि वे असमीचीन और अस्वाभाविक हैं, अमार्जित और कुरुचि-पूर्ण हैं। पर शीघ्र ही इस भूल का सुधार हुआ। अंग्रेज़ मनीषियों ने आलोचनात्मक प्रबन्धों से अंग्रेज़ मस्तिष्क को उस सौन्दर्य का अधिकारी बनाया। ग्रीक नाटकों को ह्यमेनिस्टिक या मानवीय-रस-मूलक कहा गया था। कहना नहीं होगा कि आज का यूरोपीय साहित्य कम मानवीय नहीं है, पर ग्रीकों के मानव-आदर्श और वर्तमान युग के मानव-आदर्श एक ही नहीं हैं। ब्रजभाषा कवियों की रूपोपासना को मानवीय कहा जा सकता है, ब्रज का कवि कभी कृष्ण या राधिका के रूप में अमानव रस का आरोप नहीं करता। वह केवल एक बार स्वीकार कर लेता है कि उसका प्रतिपाद्य अतिमानव या सुपर-ह्यमन है, पर इस स्वीकारोक्ति से उसके रस-बोध में कहीं भी कमी नहीं आती। वह ईसा मसीह के भावुक भक्तों की भाँति सदा अपने

प्रभु को दैवी प्रतीक या दैवी मध्यस्थ नहीं समझता। कहें तो कह सकते हैं कि ब्रज का कवि भी मानवीय है। पर ग्रीक कवि, आज के नाटककार, और ब्रजभाषा के कवि की मानवता की कल्पना में आकाश-पाताल का अन्तर है। तीनों तीन चीज़ें हैं—एक दम अलग अलग।

ग्रीक नाटकों और मूर्तियों के साथ प्राचीन ग्रीकों की रीति-नीति, आचार-व्यवहार जटिल भाव से जड़ित थे। ग्रीक आर्ट केवल आर्ट के लिए नहीं था, वह ग्रीकों का जीवन था, ग्रीकों का उत्सव था, ग्रीकों का सर्वस्व था। एक अमेरिकन लेखक ने लिखा है कि हम आजकल नाटक को जिस दूरस्थ साक्षी की भाँति देखते हैं, ग्रीक उस तरह उसे नहीं देखते थे। ग्रीक दर्शक अभिनेताओं से इतने पृथक नहीं होते थे। एक बार कविवर रवीन्द्रनाथ ने नाट्य-मंच की आलोचना के प्रसंग में कहा था कि वे जापानी क्लासिकल नाटकों की एक विशेषता देखकर आनन्दित हुए थे। अभिनेता सजकर दर्शकों के बीचोंबीच से होकर रंग-मंच की ओर अग्रसर होते थे। यह बात मानों यह घोषित कर रही थी कि अभिनेता दर्शकों से दूर की चीज़ नहीं हैं। ग्रीक नाटकों में शायद ऐसा नहीं होता था पर ग्रीक दर्शक निश्चय ही उसे अपने जीवन का एक स्वाभाविक अंग समझता था।

बौद्ध या हिन्दू देवताओं की मूर्तियों का अपूर्व कारु-कौशल उस प्रकार का हो ही नहीं सकता था, यदि शिल्पकार उसे अपने तन-मन और जीवन से न रचता। ब्रजभाषा के कृष्ण की सारी लीला भी इसी तन-मन और जीवन के ईंट-चूने-गारे से बनी है। कवि ने अपनी मनुष्यता का सुन्दर-से-सुन्दर उपयोग उस भाव-मधुर रुचिर-छवि की रचना में किया है। वह एकान्त दूर से निरीक्ष्यमाण चित्र नहीं है, वह अन्तर की प्रेम-स्रोतस्विनी की ठोस जमाहट है। वहीं आकर उसकी सारी धारा सार्थक हो गई है, रूपांतरित हो गई है। वह किसी तत्त्व, वाद या व्याख्या की अपेक्षा नहीं रखती, वह अपने आप में पूर्ण है; पर आज का नाटक या काव्य या शिल्प न तो उस जीवनमय, किन्तु नित्य-नूतन ग्रीक मानवीयता

के साथ मेल रखता है, और न इस मनोमय किन्तु परिवर्तनातीत भाव-मधुर वैष्णव मानवीयता का सादृश्य रखता है। वस्तुतः आज की ललित कला का कोई एक रूप स्थिर नहीं किया जा सकता। बहुत्वधर्मा, नानामुखी, साक्षिसापेक्षा इस कला का रूप भविष्य ही निर्णय करेगा।

इसीलिये जब सूरदास रूपातीत को 'मोहन' कहना कवि के लिए 'न्याय' बताते हैं तो उनकी बात सहज ही समझ में आ जाती है। यह रूप अन्य रूपों की भाँति आगे बढ़ने का मार्ग नहीं दिखाता, यहाँ आकर सारी गति रुद्ध हो जाती है, सारी वृत्तियाँ मुग्ध हो जाती हैं, सारी चेष्टाएँ व्यर्थता के रूप में सार्थक हो जाती हैं। कवि की सारी सार्थकता इस व्यर्थता में ही है। यह रूप मोहन है। मोहनेवाला, अर्थात् जहाँ जाकर सारी मानसिक वृत्तियाँ शिथिल हो जाती हैं। तुलसीदास एक जगह कहते हैं :

सखि ! रघुनाथ रूप निहारु।
सरदविधु रवि सुश्रन मनसिज मान भंजन हारु।
स्याम सुभग सरीर जनु मन-काम पूरनिहारु॥
चारु चन्दन मनहुँ मरकत सिखर लसत निहारु।
रुचिर उर उपवीत राजत पदिक गज मनि हारु॥
मनहुँ सुरधुनि नखत गन बिच तिमिर भंजनिहारु।
विमल पीत दुकूल दामिनि-दुति-विनिन्दनिहारु॥
बदन सुषमा सदन सोभित मदन मोहनि हारु।
सकल अङ्ग अनूप नहिं कोउ सुकवि वरननिहारु॥
दास तुलसी निरखतहिं सुख लहत निरखनिहारु।

यहाँ भी कवि के उसी रूप का उल्लेख है। ऐसा कोई कवि नहीं जो उस 'सकल अंग अनूप' का वर्णन कर सके। उसके लिये एक शब्द ही उपयुक्त है और इसका उपयोग वह तब करता है जब उसकी उपमाएँ समाप्त हो जाती हैं, उत्प्रेक्षाएँ रुद्धवेग हो पड़ती हैं, रूपक विगत-ऋद्धि

हो उठते हैं। उस समय वह एक ही बात कहता है—'बदन सुषमा सदन सोभित मदन-मोहनिहारु।' और यहीं आकर सारा कवित्व पर्यवसित हो जाता है। जिसका रूप एक बार कवि को भाव-मदिर कर देता है उसे मदन कहा जा सकता है। मदन की यह विशेषता है कि उससे मोह का आवेश बढ़ता है, नई नई कल्पनाएँ, नये नये रूपक दर्शक को विह्वल कर देते हैं। कृष्ण के अतिरिक्त अन्य सांसारिकों के रूप में मदन का भाव है—वह मादक होता है, उससे जड़ता आती है। पर कृष्ण का रूप 'मदन मोहन' है वह मादकता को भी मोहित कर देता है। उस मोह का रूप तमःप्रकृतिक नहीं है वह सत्व-प्रकृतिक है।* वैष्णव कवि की वाणी का सारा ऐश्वर्य इस 'मदन मोहनिहारु' छवि तक आकर हत-चेष्ट हो जाता है, साधक एक क़दम और आगे बढ़ता है। वह बिना किसी कारण, बिना किसी लाभ के, बिना किसी उद्देश्य के, अपने को उसपर निछावरकर देता है, अपनी सत्ता उसीमें विलीन कर देता है, यही उसका सुख है, यही उसकी चरम आराधना है—'दास तुलसी निरखतहिं सुख लहत निरखनिहारु।' देखनेवाला देखने में ही सुख पाता है—केवल देखने में!

कविवर रवीन्द्रनाथ एक स्थान पर लिखते हैं—'जो लोग अनन्त की साधना करते हैं, जो सत्य की उपलब्धि करना चाहते हैं, उन्हें बार-बार यह बात सोचनी होती है कि जो कुछ देख और जान रहे हैं, वही चरम सत्य नहीं है, स्वतन्त्र नहीं है, किसी भी क्षण में वह अपने आपको पूर्ण रूप से प्रकाशित नहीं कर सकता;—यदि वे ऐसा करतेहोते तो सभी स्वयंभू, स्वप्रकाश होकर स्थिर हो रहते। ये जो अन्तहीन स्थिति के द्वारा अन्तहीन गति का निर्देश करते हैं, वही हमारे चित्त का चरम आश्रय और चरम आनन्द है।

'अतएव आध्यात्मिक-साधना कभी रूप की साधना नहीं हो सकती

---

* प्रीतिसंदर्भ, २०३-२१५

वह सारे रूप के भीतर से चञ्चल रूप के बन्धन को अतिक्रम करके ध्रुव सत्य की ओर चलने की चेष्टा करती है । कोई भी इन्द्रियगोचर वस्तु अपने को ही चरम समझने का भान करती है, साधक उस भान के आवरण को भेद कर ही परम पदार्थ को देखना चाहता है । यदि यह नाम-रूप का आवरण चिरन्तन होता तो वह भेद न कर सकता । यदि ये अविश्रान्त भाव से नित्य प्रवहमान होकर अपनी सीमा को आप ही न तोड़ते चलते तो इन्हें छोड़कर मनुष्य के मन में और किसी चिन्ता का स्थान ही न होता तब इन्हें ही सत्य समझ कर हम निश्चिन्त हो बैठे रहते,— तब विज्ञान और तत्त्वज्ञान इन सारे अचल और प्रत्यक्ष सत्यों की भीषण श्रृंखला में बँधकर मूक और मूर्छित हो रहते । इनके पीछे और कुछ भी न देख पाते। किन्तु ये सारे खण्डवस्तु-समूह केवल चल हो रहे हैं, क़तार बाँध कर खड़े नहीं हो गए, इसीलिये हम अखण्ड सत्य का, अक्षय पुरुष का, सन्धान पाते हैं... .. ..

'इसीलिये शिल्प-साधना में भाव-व्यंजना 'सजेस्टिवनेस' का इतना आदर है । इस भाव-व्यञ्जना के द्वारा रूप अपनी एकान्त व्यक्तता को यथासम्भव परिहार करता है, इसीलिये अपनेको अव्यक्त मे विलीन कर देता है । इसीलिये मनुष्य का हृदय रूप से प्रतिहत नहीं होता। राजोद्यान का सिंहद्वार कितना ही अभ्रभेदी क्यों न हो, उसकी शिल्प कला कितनी ही सुन्दर क्यों न हो, वह यह नहीं कहता कि हम में आकर ही सारा रास्ता समाप्त हो गया । असल गन्तव्य-स्थान उसे अतिक्रम करने के बाद ही है, यही बताना उसका फ़र्ज़ है ।'

इस लम्बे उद्धरण को उद्धृत करने का कारण यह है कि इसमें रूप के बन्धनात्मक-स्वरूप से उतरकर बाधात्मक-रूप में प्रकट होने की सुन्दर व्याख्या की गई है । रूप बन्धन है, पर यह बन्धन रूपातीत को समझने में सहायक है, रूप चल है पर वह सनातन की ओर इशारा करता है; रूप सीमा है पर उसमें असीम की भाव--व्यञ्जना

है। यही रूप जब आध्यात्मिक-साधना का विषय हो जाता है तो बन्धन से भी नीचे उतरकर बाधा का रूप धारण करता है। फिर वह उस राजोद्यान के सिंहद्वार के समान गन्तव्य की ओर इशारा न कर अपने आपको ही एक विषम बाधा के रूप में उपस्थित करता है। एक सुप्रसिद्ध कलामर्मज्ञ ने कहा है कि आर्ट जब देवी देवताओं की उपासना में नियोजित होता है तो उसमें एकघृष्टता आ जाती है, उसमें प्रतिभा का स्थान नहीं रह जाता, क्योंकि प्रतिभा नित्य नूतन रूप चाहती है, देवी देवताओं की मूर्तियों की एक ही कल्पना सदा के लिये स्थिर हो जाती है। रवीन्द्रनाथ स्वयं कहते हैं—'कल्पना जब रुककर एक ही रूप में, एकान्तभाव से, देह धारण करती है, तब वह अपने उसी रूप को दिखाती है, रूप के अनन्त सत्य को नहीं। इसीलिये विश्व-जगत् के विचित्र और चिर-प्रवाहित रूप के चिर परिवर्तनशील अन्तहीनप्रकाश में ही हम अनन्त के आनन्द को मूर्तिमान देखते हैं।'

वैष्णव कवि भी रूप के इस पहलू को समझता है। अन्तर यह है कि उसका रूप चरम रूप है जिसकी उपासना में वह अरूप की परवाह नहीं करता। यह रूप कल्पना-प्रसूत नहीं है बल्कि कल्पना से परे है! रवीन्द्रनाथ का तत्त्ववाद और उपलब्धि एक ही वस्तु है, इसीलिये उनके निकट कल्पना और भक्ति में कहीं विरोध नहीं हो सकता है। वैष्णव कवि कल्पना और भक्ति को दो चीज़ समझता है। जहाँ उसकी कल्पना रुक जाती है—अर्थात् जब रूप 'मोहन' हो उठता है, जहाँ सारी चित्तवृत्ति मुग्ध हो जाती है—वहीं उसकी भक्ति शुरू होती है। कवि-वैष्णव (बिहारी आदि) कल्पना के उस ऊँचे स्तर तक पहुंच कर रुक जाते हैं जहाँ वह हत चेष्ट हो जाती है, मुग्ध हो जाती है। भक्त-वैष्णव और आगे बढ़ता है और अपनी चरम उपासना—आत्म निवेदन - में अपना सर्वस्व आहुत कर देता है।

वैष्णव कवि के इस भाव को न समझकर वर्तमान युग के आलोचक उसे 'टाइप' या 'फ़ार्मला' हो जाना कहने लगते हैं। हमें 'टाइप' या

'फ़ार्मल' शब्द से कोई एतराज़ नहीं । मगर यूरोप के पण्डित कभी कभी कहा करते हैं कि 'टाइप' में आकर आर्ट अवनत हो जाता है, अर्थात् वे इन शब्दों को कुछ अनादर के साथ व्यवहार करते हैं । इस सम्बन्ध में एक कला समीक्षक का कहना है—'फ़ार्मल कहकर शिल्प की अवज्ञा करना इस युग में हमें संयत करना होगा । जिस प्रकार काव्य में, उसी प्रकार चित्र और शिल्प कला में आर्ट (कला) को 'फ़ार्मल' होना ही पड़ता है—किन्तु इसीलिये एक-एक भाव के लिये एक सम्पूर्ण 'फ़ार्म' पा सकना जाति और कला के इतिहास में मामूली बात नहीं है ।

बात असल में यह है कि जाति ने जिस रूप को निरन्तर मनन के द्वारा एक श्रेष्ठ रूप दिया, वह सौन्दर्य की सृष्टि को विशिष्ट होने से बचाता है । एक जगह हमने चीन की कला के सम्बन्ध में एक यूरोपियन समालोचक का एक उद्धरण पढ़ा था जिसका भाव यह है कि कला के रस को लगातार जारी रखने में चीनवालों ने संसार की अन्य किसी जाति से अधिक सफलता पाई है क्योंकि चीन की कला एक विशेष आकार में चार हज़ार वर्षों से बराबर चली आ रही है । कला के विषय में चीनवालों के बारे में जो बात कही गई है वही बात काव्य के विषय में वैष्णव-कवियों के बारे में कही जा सकती है । पर जिसलिए एक विशेष आकार-भंगी ग्रहण करने के कारण चीन की कला में रस का अभाव बताना धृष्टता है, उसी प्रकार वैष्णव कवियों की रूपोपासना को भी वैचित्र्य-विहीन कहना अनुचित है ।

यह तो हुई टाइप और फ़ार्म की बात । पर कुछ समालोचक इसके विपरीत विचार रखकर भी वैष्णव कवि की रूपोपासना को हेय समझते हैं । वे फ़ार्म और टाइप को स्वीकार कर लेते हैं पर इस 'फ़ार्म' के साथ चित्त-वृत्ति की मुक्ति को स्वीकार नहीं करते अर्थात् वे कृष्ण या राधा के विशेष रूप के सम्बन्ध में कोई आपत्ति नहीं करते । वे यह स्वीकार कर लेते हैं कि

रूपातीत को एक कल्पनातीत रूप में बँधना पड़ा है, पर साथ ही यह भी निश्चित कर देना चाहते हैं कि इस स्वीकृत फ़ार्म' को अमुक-अमुक चित्तवृत्तियों के साथ बाँध देना चाहिए। देवी को अगर एक रूप दिया गया है तो उस रूप की परितृप्ति के साधन भी निश्चित होने चाहिए। इसी श्रेणी में वे पण्डित भी आते हैं जो राधा और कृष्ण के संयोग-शृंगार को त्याज्य समझते हैं। असल में रूप के साथ जब चित्त-वृत्तियों को बाँध देते हैं तभी वह बन्धन से उतरकर बाधा के रूप में खड़ा हो जाता है। 'तारा' या 'त्रिपुर सुन्दरी' का रूप भी निश्चित है और साधना-पद्धति भी। पर वैष्णव कवि का रूप तो निश्चित है किन्तु साधना-पद्धति अनिश्चित! कृष्ण की उपासना, पिता, स्वामी, पुत्र, सखा, माता प्रेमी आदि नाना रूपों में हो सकती है। वह बन्धन है पर बाधा नहीं।

तुलसीदास कहते हैं:—

> मोंहि तोहि नाते अनेक मानिये जो भावै,
> ज्यो त्यों तुलसी कृपाल चरन सरन पावै।

यही वैष्णव कवियों की रूप-उपासना है। रूप के अतीत अरूप-सत्ता को वह भूल जाता है। पर इस बन्धन की स्वीकृति को सार्थक करता है चित्तवृत्ति की मुक्ति में। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार नदी अपने तटों की सार्थकता अपने स्रोत की मुक्ति में पाती है। इसीलिये वैष्णव कवि की ठोस रूपोपासना 'पेगन' की रूपोपासना से अलग है।

उन्नीसवीं शताब्दी के दार्शनिकों का विश्वास था कि मानव सभ्यता के प्रथम युग में मनुष्य ने भय और कौतूहलवश नाना अदृष्ट शक्तियों के नाना रूपों की कल्पना की थी; परन्तु वर्तमान शताब्दी के नृतत्वशास्त्र के नये आविष्कारों ने इस विश्वास की जड़ हिला दी है। आज संसार की जिन जातियों को आदिम श्रेणी का समझा जाता है, उनमें बिना किसी अपवाद के इस बात का अभाव पाया जाता है। इसके अतिरिक्त

ज्यों-ज्यों पुरानी जातियों के पुराने इतिहास का प्रकाशन होता जा रहा है, त्यों-त्यों यह बात प्रकट होने लगी है कि भय-मूलक रूपों की कल्पना मध्यवर्ती स्थिति की उपज है, आदिम की नहीं। प्रागैतिहासिक युग के चित्रित दीवालों, गुफाओं और शास्त्र आदि के अध्ययन से नृतत्त्व-वेत्ताओं ने निष्कर्ष निकाला है कि आदि मानव की रूप-सृष्टि के दो कारण थे : प्रथम यह कि आदि मानव का विश्वास था कि जिस चीज़ का चित्र बनाया जाता है, वह वस्तुतः बढ़ा करती है; अगर एक हरिण का चित्र बनाया गया, तो वन में अनेक हरिणों की वृद्धि होगी। एक बादल का अंकित करना आकाश में बादलों की वृद्धि का उपाय समझा जाता था। दूसरा कारण यह था कि आदि मानव चित्रों को वास्तविक वस्तु का प्रतिनिधि समझता था; अतएव उसके पास किसी चीज़ के चित्र रहने का मतलब यह था कि सचमुच उस वस्तु पर उसका अधिकार होगा। जब जे. जी. फ्रेज़र ने पहले पहल इस निष्कर्ष का प्रकाशन किया, तो सारे यूरोप में इसका बड़ा ज़बर्दस्त विरोध किया गया। कहा गया कि ये स्वप्न-प्रसूत विचार हैं, कपोल-कल्पना है—असत्य है; पर सन् १६०३ ई० में जब एस० रेनेक (S Reinach) ने लगभग १२०० प्रागैतिहासिक चित्रणों को प्रकाशित किया, तो विरोध ठण्डा पड़ गया। देखा गया कि इन चित्रों में सब के सब दूध देनेवाले पशुओं, हरिणों, घोड़ों और बकरियों के थे। इस श्रेणी की रूप-सृष्टि को तान्त्रिक सृष्टि 'मैजिकल क्रिएशन' कहते हैं।

यह देखा गया है कि मनुष्य जब हाथ से चित्र खींचने लगता है, उसके बहुत पहले से ही वह मन में उसकी कल्पना किए रहता है। इसलिये तान्त्रिक सृष्टि ही मनुष्य की आदि मानस सृष्टि रही होगी। हिन्दुओं के वेद यद्यपि आदि मानव-सभ्यता के प्रतिनिधि नहीं हैं; परन्तु वैदिक मन्त्रों में तान्त्रिक सृष्टि के मानस-रूप का आभास हम पाते हैं। जो हो, मनुष्य ने सभ्यता के शिखर पर चढ़ने के लिये जो दूसरी सीढ़ी बनाई वह तान्त्रिक सृष्टि के सर्वथा विपरीत थी। अब उसे धीरे-धीरे

अनुभव होने लगा था कि हिरन का चित्र बनाने से ही हिरन नहीं बढ़ते, गाय के अंकित होते ही उसके घर दूध की नदी नहीं बहने लगती—कोई शक्ति है जो इस तान्त्रिक नियम में बाधा पहुंचा रही है । यह शक्ति भयानक है । वह गायों का संहार कर सकती है, वह वन को निःसत्त्व बना देती है, वह घर के बच्चों पर भी हमला करती है । ज्यों-ज्यों मनुष्य सभ्यता की दौड़ में आगे बढ़ने लगा, त्यों-त्यों वह इस शक्ति की विकरालता अनुभव करने लगा । केवल विकरालता ही नहीं, उसने देखा कि यह शक्ति अनेकरूपा है—इसकी पूजा होनी चाहिए । यहीं से भयमूलक रूप की सृष्टि आरम्भ हुई ।

मनुष्य का मन कुछ और आगे बढ़ा । उसने देखा, विकराल शक्ति की पूजा हो रही है, तो भी भयजनक अवस्था का अन्त नहीं होता । उसने महसूस किया कि केवल विकराल शक्ति भर ही सब कुछ नहीं है, कुछ और है, जो इसकी पूजा के बिना भी संसार की रक्षा कर रहा है और पूजा होने पर संसार का नाश कर सकता है । वह अकेले ही पैदा कर सकता है, अकेले ही रक्षा कर सकता है, अकेले ही संहार भी कर सकता है । हवा उसीके इशारे पर नाच रही है समुद्र उसीके इशारे पर मौन-गम्भीर मुद्रा से आकाश की ओर ताक रहा है, सूर्य उसीके इंगित पर जल रहा है । वह महान् है, वह ब्रह्म है, वह व्यापक है ।

और उसका रूप ? संसार में ऐसा क्या है, जो उसका रूप न हो ? क्या है, जो ठीक-ठीक उसका रूप बता सके ? वह यह भी नहीं, वह भी नहीं, ऐसा भी नहीं, वैसा भी नहीं,—नेति, नेति, नेति, ! मगर मनुष्य के भीतर का कवि, उसके भीतर का कलाकार, उसमें का मनीषी इसकी सृष्टि करेगा ही । सीधे रास्ते न हो सकेगा, तो टेढ़े से चलकर, भौतिक रूप से काम न चलेगा, तो अभिनव कल्पना के बल पर । वह अनन्त है; पर मनुष्य उसकी अनन्तता को अभिव्यक्त कैसे करेगा । उसके पास क्या है, जो अनन्तत्व को रूप दे सके ? है क्यों नहीं । वह जो शंख में एक

आवर्त है, घुमाते जाओ; पर समाप्त होने का नाम नहीं लेता—न स्थान में और न काल में—उस आवर्त मात्र को अनन्तत्व का प्रतीक क्यों नहीं माना जा सकता ? इस आवर्त को आधार करके स्वस्तिक और प्रणव की रचना हुई । ब्रह्म शान्त है; पर शान्ति को रूप कैसे दिया जाय ? मनुष्य ने उसकी भी कल्पना की । सारांश, उसने अरूप को रूप देने के नाना उपाय आविष्कार किए और यहीं से प्रतीक-मूलक सृष्टि का सूत्रपात हुआ ।

मनुष्य ने ब्रह्म को व्यापक समझा; परन्तु इस व्यापकता और सर्व-शक्तिमत्ता की कल्पना के कारण उसका मन सदा अपने को उस शक्ति के नीचे समझता रहा । धीरे-धीरे उसने ब्रह्म को 'ईश्वर' नाम दिया । ईश्वर अर्थात् समर्थ, ऐश्वर्य-मय । इस ऐश्वर्य-बोध के कारण मनुष्य ने उसे अपने से अलग समझा, अपने से बड़ा समझा, अपना उद्धार-कर्त्ता समझा । इस मनोवृत्ति को धार्मिक मनोवृत्ति कहते हैं; परन्तु साथ ही मनुष्य यह सदा समझता रहा कि वह ब्रह्म है, वह व्यापक है, वह हमसे अलग नहीं । इस मनोवृत्ति को दार्शनिक मनोवृत्ति कहते हैं । ये दोनों बातें मनुष्य की सभ्यता के विकास में बहुत बड़ा हाथ रखती हैं । समय-समय पर इन दोनों वृत्तियों में कभी यह, कभी वह प्रबल होती रहीं । इसके फल-स्वरूप संसार में नाना प्रकार के धर्म-मत और दार्शनिक मत-वाद पैदा होते रहे । इन दोनों मनोवृत्तियों के फल-स्वरूप मनुष्य-जाति ने अनेक प्रकार के चित्र, मूर्ति, मन्दिर आदि निर्माण किए, अनेक गीति, कविता और नाटक लिखे; ललित कला की अभूतपूर्व समृद्धि सम्पादन की; पर सर्वत्र वह कभी धार्मिक और कभी दार्शनिक मनोवृत्ति का परिचय देता रहा ।

अचानक मध्य युग की भारतीय साधना में हम एक प्रकार के कवियों और चित्रकारों को एक अभिनय सृष्टि में तल्लीन देखते हैं । वे मानते हैं कि उस शक्ति में ऐश्वर्य है—इसलिये निश्चय ही वह बड़ी है, अभेद्य है, अच्छेद्य है । साथ ही वे यह भी स्वीकार करते हैं कि वह ब्रह्म है, वह

व्यापक है—काल में भी और स्थान में भी; अर्थात् वह अनादि है, अनन्त है, अखण्ड है, सनातन है, पर ये दोनों उसके एकाङ्गी परिचय हैं। ऐश्वर्य भी उसका एक अंग है, ब्रह्मत्व भी उसका एक अंश है, इन दोनों को अति क्रान्त करके स्थित है उसका माधुर्य। इसका साक्षात्कार होता है प्रेम में! जहाँ वह साधारण-से साधारण आदमी का समानधर्म है। वही, इस प्रेम की प्यास में अपना सब कुछ भूल जाता है. वही अहीर की छोहरियों के सामने नाचता है, गाता है, कल्लोल करता है—

> जाहि अनादि अनन्त अखण्ड अछेद अभेद सुवेद बतावैं।...
> ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भरि छाँछ पै नाच नचावैं।

जो उसे ज्ञान-मय समझते हैं, ब्रह्म समझते हैं, वे उसके एक अंश को जानते हैं; पर जो उसे प्रेम-मय समझते हैं, वे उसके सम्पूर्ण अंश को जानते हैं।* ये कवि और साधक ही प्रथम बार साहस के साथ कहते सुने जाते हैं कि मोक्ष परम पुरुषार्थ नहीं प्रेम ही परम पुरुषार्थ है—'प्रेमा पुमर्थो महान्।'

---

* श्री मद्भागवत (१-२-११) में एक श्लोक आया है—

> विदन्ति तत्त्वतत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
> ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

इस श्लोक के आधार पर वैष्णव आचार्यों ने परम-पुरुष के तीन रूपों का वर्णन किया है—ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्। ब्रह्म भगवान् के उस रूप का नाम है, जो विशुद्ध ज्ञानमय है, ज्ञान मार्ग के उपासक इस रूप की उपासना करते हैं। इसमें ज्ञाता और ज्ञेय का भेद नहीं रहता। जिस प्रकार चर्मचक्षु से सूर्य-मण्डल के नाना विजातीय पदार्थ, जिनमें सैकड़ों मील विस्तृत अन्धकारमय दरारें भी हैं, एक ही ज्योति के रूप में दिखाई देते हैं, उसी प्रकार भगवान् का नाना शक्तिमय और गुणमय रूप ज्ञानमय ही दिखाई देता है (ब्रह्म संहिता ५.४३)। परमात्मा योगियों का उपास्य

इस मध्ययुग की साधना के समानान्तर चलने वाली एक दूसरी प्रचंड प्रेम-धारा यूरोप में उसी युग में आविर्भूत हुई थी। वह थी ईसाई-साधना। प्राचीन यहूदियों के धर्म-ग्रन्थों के अनुसार यह संसार खुदा के हाथ से खिसककर गिरा हुआ यन्त्र है। इसीलिये यह पापमय है। इसमें पैदा होने वाले मनुष्य स्वभावतः ही पापमय हैं। इनके और ईश्वर के बीच एक बड़ा भारी व्यवधान रह गया है। इसी व्यवधान के कारण मनुष्य—पापात्मा—भगवान् के पवित्र संसर्ग से वञ्चित होकर शैतान का शिकार बन गया है। मनुष्य की इस दुरवस्था से करुणा-विगलित होकर प्रभु ईसा मसीह ने अवतार धारण करके इस व्यवधान को भर दिया। जिसके सिर पर उस करुणा-मूर्ति ने हाथ रख दिया, वही तर गया। पतितों पर इसकी विशेष दृष्टि है, दीनों की पुकार पर वह दौड़ पड़ता है, आर्तों को वह शरण देता है—अद्भुत प्रेममय है वह पतित-पावन, वह दीन-दयालु, वह अशरणशरण !

मध्ययुग की भारतीय साधना में भी श्रीकृष्ण या श्रीरामचन्द्र ठीक इसी प्रकार दिखाई देते हैं। कहीं हम उन्हें मांसाशी गीध 'जटाऊ की धूरि जटान सों' झारते देखते हैं, कहीं अस्पृश्य शबरी के जूठे बेरों को प्रेम-सहित चखते देखते हैं, कहीं दीन सुदामा के पैरों को 'आँसुन के जल सों' धोते देखते हैं—ठीक उसीप्रकार का पतित-पावन का रूप, दीन-दयालु रूप,

---

है। इसमें ज्ञाता और ज्ञेय में भेद रहता है। जिस प्रकार सूर्य बहुत दूरी पर रहकर नाना पदार्थों के नाना रूपों में प्रकाशित होता है, उसीप्रकार श्रीकृष्ण अचिन्त्य शक्ति के द्वारा नाना पदार्थों में 'परमात्म-रूप' से प्रत्यक्ष होते हैं (श्रीमद्भागवत १.९.४२)। प्रेमियों के निकट भगवान् का पूर्ण-रूप प्रकट होता है। इस रूप को "भगवान्" कहते हैं। वैष्णव आचार्यों ने बताया है कि श्रीकृष्ण ही भगवान् हैं। (दे०—जीव गोस्वामी का भागवतसन्दर्भ और भागवत के ऊपर उद्धृत श्लोक पर महाप्रभु वल्लभाचार्य, श्रीजीव गोस्वामिपाद और श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती की टीकाएँ।)

अशरण-शरण रूप ! मगर वैष्णव कवि यहीं आकर नहीं रुकता । ईसाई साधक की विगलद्वाष्पा भावुकता ही उसकी नैया पार कर देती है, उसे आगे जाने की ज़रूरत नहीं; पर, वैष्णव कवि नैया पार करने की चिन्ता में उतना समय बर्बाद करना नहीं जानता । उसे अर्थ नहीं चाहिए, धर्म नहीं चाहिए, मोक्ष नहीं चाहिए—चाहिए भक्ति, चाहिए प्रेम—

अरथ न धरम न, काम नहिं, गति न चहौं निरवान,
जनम जनम रघुपति भगति, यह वरदान निदान ।

संसार के उपासना के इतिहास में रूपों की उपासना की कमी नहीं है । परन्तु, कहाँ है वह साहस, वह प्रेम पर बलिदान कर सकने की अद्भुत क्षमता, जो मध्ययुग के इन साधक कवियों ने ठोस रूप के प्रति प्रकट की है !—

या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं,
आठहु सिद्धि नवों निधि कौ सुख नन्द की धेनु चराइ बिसारौं ।

यह उपास्य रूप की चरम-सृष्टि है, इसके आगे रूप की रचना असम्भव है । यहाँ आकर भगवान् मनुष्य के अपने हो जाते हैं, वह बड़े भी नहीं, छोटे भी नहीं, हमारे हैं । हमारे माता-पिता हैं, भाई-बहन हैं, सखा-सखी हैं, प्रेमी-प्रेमिका हैं, पुत्र-पुत्री हैं—हम जो चाहें वही हैं । वेदों और पुराणों ने जिसका कोई उपयुक्त पता नहीं बताया, इंजील और क़ुरान जिसकी व्याख्या करते थक गए, दर्शन और धर्मग्रंथ जिसका कोई सन्धान न पा सके, वही कितना सहज है, कितना निकट ! वह हमारा प्रेमी है !—

'ब्रह्म जो भाख्यौ पुराननि में
तेहि देख्यौ पलोटत राधिका पायन ।'

—['विद्या' में प्रकाशित]

२

समीक्षकों की समीक्षा*

'समालोचना' शब्द का व्यवहार आजकल बहुत व्यापक और अस्त-व्यस्त अर्थ में होरहा है। अँग्रेज़ी के क्रिटिसिज़्म, रिव्यू, ओपीनियन आदि शब्दों के सिवा संस्कृत के टीका, व्याख्या आदि सभी अर्थों में इसका व्यवहार होते देखा जाता है। साधारणतः समालोचक का कर्तव्य यह समझा जाता है कि वह कवि और काव्य के दोष-गुणों की परीक्षा करे, उत्कर्ष-अपकर्ष का निर्णय बतावे और उपादेयता या अनुपादेयता के सम्बन्ध में परामर्श दे। सनातनकाल से समस्त देशों में काव्य-समालोचक निम्न-लिखित तीन बातों में से एक, दो या तीनों का कार्य करते आए हैं—विश्लेषण, व्याख्या और उत्कर्षापकर्ष-विधान। लेकिन बहुत हाल ही में समालोचक के इस सनातन-समर्थित कर्तव्य को सन्देह की दृष्टि से देखा जाने लगा है। सबसे पहला आक्रमण 'समालोचना' नामक विषय पर ही किया गया है। कवि और पाठक के बीच इस मध्यवर्ती बाधा की उपकारिता पर ही सन्देह प्रकट किया गया है। विभिन्न देश और काल के इतिहास से इस प्रकार के सैकड़ों प्रमाण एकत्रित किए जा सके हैं कि एक ही कवि या नाटककार को दो समालोचक एकदम विरुद्ध रूप में देखते हैं। फ्रांस के आलोचक बहुत दिनों तक शेक्सपियर को असभ्य, जङ्गली और कलाशून्य समझते रहे और इंग्लैण्डवाले उसे संसार का सबसे श्रेष्ठ कलाकार! मिल्टन के 'पैराडाइज़ लॉस्ट' को एक पंडित ने बहुत ही उत्तम और दूसरे ने अत्यन्त निकृष्ट कोटि का काव्य बताया था। हिन्दी में अभी उस दिन तक विभिन्न पण्डितों में देव और बिहारी के काव्योत्कर्ष के विषय में परस्पर

---

* श्री रामनरेश त्रिपाठी की 'तुलसीदास और उनकी कविता', श्री गिरजादत्त शुक्ल 'गिरीश' बी० ए० की 'गुप्तजी की काव्य-धारा' और श्री रामनाथ 'सुमन' की 'कवि प्रसाद की काव्य-साधना' नामक पुस्तकों की चर्चा।

विरोधी मतों का चखचख चलता रहा। दूर जाने की कोई ज़रूरत नहीं, हमारे आलोच्य ग्रन्थों में एक के रचयिता श्री रामनाथलाल 'सुमन' को गत मास दो पण्डितों ने दो परस्पर विरुद्ध जातियों का व्यक्ति बताया है। श्री नगेन्द्र के मत से वे कल्पना–प्रधान या इमेजीनेटिव् स्कूल के हैं (साहित्य–सन्देश), और श्री वनमाली ने उन्हें प्रभाववादी या 'इम्प्रेशनिस्ट' सम्प्रदाय का माना है (विशाल भारत)। इसप्रकार प्रत्येक देश और प्रत्येक काल में समालोचक के विश्लेषण, उत्कर्षापकर्ष–विधान और व्याख्याओं में गहरा मतभेद देखा जाता है, अथच उसके बिना काम भी नहीं चलता। समस्त हिन्दी-साहित्य को पढ़ना सम्भव नहीं है, उस पर अपना मत भी स्थिर करना सबके बूते का नहीं है। इस अज्ञान की अपेक्षा पं० रामचन्द्र शुक्ल का विशेष दृष्टि से देखा हुआ साहित्यिक निष्कर्ष पढ़ना कहीं अधिक अच्छा है। इस प्रकार पं० रामचन्द्र शुक्ल का मत एक-दो स्थानों पर भ्रामक होते हुए भी सब मिलाकर काम की चीज़ सिद्ध हो सकता है; पर ख़तरा यह है कि पं० रामचन्द्र शुक्ल को हम क. ख. ग नामक समालोचकों से विशेष कैसे मान लें ? कौन-सा बाँट है, जिससे हम शुक्लजी के भारीपन और दूसरों के हल्केपन का निर्णय कर लें। स्पष्ट ही हमें फिर एक दूसरे आदमी की राय लेनी पड़ेगी, और इस प्रकार मूल पुस्तक के बीच हम एक और बाधा को स्वीकार कर लेंगे। सच पूछा जाय तो मूल पुस्तक और पाठक के बीच इन बाधाओं की परम्परा बहुत ख़तरनाक साबित हुई है। इस वैज्ञानिक युग में, इसीलिये, इन उत्कर्षापकर्षविधायिनी समालोचनाओं के प्रति एक तरह के विराग का वातावरण तैयार हुआ है। इसलिये कुछ पण्डितों ने समालोचना को बिलकुल नये ढंग का शास्त्र बनाना चाहा है, क्योंकि उसके बिना जब काम चल ही नहीं सकता और पुराना ढङ्ग जब ख़तरनाक सिद्ध हो ही चुका है, तो इस शास्त्र का आमूल संस्कार क्यों न कर लिया जाए।

इन नये पण्डितों का मत है कि समालोचना में उत्कर्ष या अपकर्ष का निर्णय नहीं होना चाहिए। वनस्पति-शास्त्री बबूल और गुलाब के

सौन्दर्य या गुणों की मात्रा का विचार नहीं करता, वह केवल इनकी जाति का भेद बताता है। इसीप्रकार समालोचक को भी आलोच्य ग्रन्थकार की जाति का निर्णय करना चाहिए, गुण और दोष की मात्रा का नहीं। प्राचीन निर्णयात्मक-समालोचना (जुडिशियल क्रिटीसिज़्म) के विरोध में इसका नाम दिया गया है अभ्यूहमूला समालोचना (इनडक्टिव क्रिटिसिज़्म)। इसमें कवियों के प्रकार (काइण्ड) में भेद किया जाता है, मात्रा (डिग्री) में नहीं। ये समालोचक काव्य का विश्लेषण करते हैं, गुण-दोष का निर्णय नहीं। लेकिन वनस्पतिशास्त्री के बबूल और गुलाब का जाति-भेद बताने के बाद भी एक ऐसे शास्त्र की आवश्यकता रह जाती है जो बतावे कि इन दोनों में से किसका नियोग मानव-जाति के किस कल्याण में किया जासकता है। उसीप्रकार इस समालोचना के बाद भी इस बात की ज़रूरत रह जाती है कि समालोचक नहीं तो कोई और ही बतावे कि किस कवि से समाज को क्या लाभ या हानि है, अर्थात् समाज के लिये कौन कितना उत्कृष्ट या अपकृष्ट है? इस प्रकार समस्या जहाँ की तहाँ रह जाती है। असल में सवाल जुडिशियल या इनडक्टिव आलोचना का नहीं है, सवाल है एक सामान्य निर्णायक साधन का। भारतवर्ष के पण्डितों ने अनेक रगड़-झगड़ के बाद एक सामान्य साधन (कॉमन स्टैण्डर्ड) बनाने की चेष्टा की थी; पर काल–परिवर्तन के साथ वह अस्त्र भी मोथा हो गया है। फिर भी उनके सुझाए हुए मार्ग से नये स्टैंडर्ड का उद्भावन किया जा सकता है; किन्तु दुर्भाग्य-वश अपने समालोचकों को मैथ्यू आर्नाल्ड से फुर्सत ही नहीं मिलती। आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त और मम्मट की सुने कौन? इन प्राचीन भारतीय पण्डितों ने जो कुछ कहा है, सोच-समझ कर; कोलाहल–पूर्ण ढङ्ग पर वक्तव्य वस्तु को अनावश्यक फेनिल करना इन्हें नहीं आता था। यह ध्यान देने की बात है कि काव्य के अत्यन्त सुकुमार विषयों का विवेचन करते समय, जहाँ तर्क की कसौटी विषम कर्कश होने के कारण असफल हो जाती रही, इन आचार्यों ने एक स्वर से

सहृदय हृदय को प्रामाण्य माना है। आलोचकों की आलोचना शुरू करने के पहले इन आचार्यों के बताए हुए सहृदय व्यक्ति का अपने मन में चिन्तन कर लेने से हमारा रास्ता बहुत साफ़ हो जायगा, क्योंकि कोई भी समालोचक शायद ही अपने को असहृदय मानेगा। अभिनवगुप्त के मत से जिनके मन-रूपी मुकुर—मनोमुकुर, जो काव्यानुशीलन के अभ्यास से स्वच्छ हो गया है—में वर्णनीय विषय में तन्मय हो जाने की योग्यता है, वे ही हृदय-संवाद के भाजन रसिकजन सहृदय कहला सकते हैं।

२

'गुप्तजी की काव्य धारा' के लेखक गिरीशजी में विश्लेषण और निर्णय दोनों की प्रवृत्ति है, व्याख्या की कम है। गुप्तजी के समग्र साहित्य को कई खण्डों में बाँटकर उन्होंने उसकी जाँच की है। उनके विश्लेषण तर्कपूर्ण और युक्तियाँ समीचीन हैं। साहित्य में प्रवेश करने की क्षमता उनमें है; लेकिन ऐसा जान पड़ता है कि किसी कारणवश उनमें तन्मयीभवन की मात्रा कम पड़ गई है। शायद इसलिये कि पुस्तक लिखने में उनका उद्देश्य काव्य का रसास्वादन नहीं था, बल्कि उन्होंने सोचा था कि "वर्तमान काल के कृती ग्रन्थकारों का एक साधारण अध्ययन प्रस्तुत करने से सम्भवतः उन क्षुद्र मनोविकारग्रस्त समालोचनाओं का बल घटे, जो आजकल अनुत्तरदायित्वपूर्ण लेखकों की लेखनी से प्रसूत होकर हिन्दी-साहित्य के कलेवर को दूषित कर रही हैं," और इसीलिये उनका अधिकांश प्रयत्न यह दिखाने में ही नियोजित रह गया हो कि "देखो, समालोचना ऐसे की जाती है।" और शायद इसका एक कारण यह भी हो कि गुप्तजी उनके मनोनुकूल कवि नहीं हैं। यद्यपि ग्रन्थ के अन्त में उन्होंने यही निष्कर्ष निकाला है कि गुप्तजी के बारे में कोई अन्तिम बात नहीं कही जा सकती; पर उपान्त्य बात तो उन्होंने बता ही दी है—"समाज की प्रस्तुत समस्याओं को सुलझानेवाले सत्य का आविष्कार गुप्तजी ने नहीं किया है, वे अपने आदर्श के लिए वर्तमान राजनैतिक आचार्यों के प्रति ऋणी हैं;

पर जैसा कि ऊपर कहा गया है, उसको भी साहित्य में अविकल रूप से व्यक्त नहीं कर सके हैं । अतएव जहाँ तक साहित्यिक सृष्टि द्वारा समाज को प्रस्तुत और आगामी आदर्श के अनुरञ्जित रूप देने का सम्बन्ध है, वहाँ तक गुप्तजी को आधुनिक काल के प्रतिनिधिरूप में भी नहीं ग्रहण कर सकते ।" जिस किसीने गुप्तजी के साहित्य को पढ़ा है, वह थोड़े हेरफेर के साथ स्वीकार कर लेगा कि गिरीशजी ठीक कह रहे हैं । वह पूछ सकता है—क्यों ऐसा हुआ है, क्यों गुप्तजी अपने आदर्शों के लिए राजनैतिक आचार्यों के ऋणी हैं, क्यों वे आधुनिक युग का प्रतिनिधित्व नहीं कर सके ? गिरीशजी ने इन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं दिया । देने की कोई आवश्यकता भी नहीं थी । वे उस जाति के आलोचक हैं जिनकी समालोचना को निर्णयात्मक समालोचना कहा जाता है अतएव उनके लिये इन बातों का उत्तर स्पष्ट है : गुप्तजी में ऐसी योग्यता नहीं है !

लेकिन ऐसे भी साहित्यिक अध्येता हैं, जो गुप्तजी को, या किसी भी कवि को, एक उपलच्यमात्र समझ सकते हैं । गुप्तजी एक विशेष जल-राशि की सबसे ऊँची उठी हुई तरङ्ग हैं । इस तरङ्ग की ऊँचाई पर से उस जलराशि की जल–सम्पत्ति और उसकी गहराई का हिसाब लगाया जा सकता है, साथ ही उस प्रदेश में उठनेवाले तूफ़ान के वेग की प्रचण्डता या शिथिलता का भी पता लग सकता है । यह भी जाना जा सकता है कि इतने बड़े तूफ़ान को ठीक-ठीक प्रतिफलित कर सकने की सम्पत्ति वहाँ है या नहीं । ऐसा देखना उन अध्येताओं की दृष्टि में गुप्तजी को समग्र भाव से देखना होता । अगर किसी कवि के सांगोपांग अध्ययन के बल पर उस जाति की शिक्षा, संस्कृति आदि की गहराई और उसकी आशा–आकांक्षाओं का वेग हम न जान सके तो उस अध्ययन से हमारा क्या लाभ हुआ ? छन्द लिखने में अमुक कवि ने सफलता पाई है या नहीं, समाज या साहित्य में उड़ते हुए विचारों को वह पकड़ सका है या नहीं, उसने नाटक लिखने में सफलता पाई है या महाकाव्य—ये सभी बातें उपलक्षण हैं । इन्हींके लिये कवि का अध्ययन नहीं किया जाता ।

इसीलिये गिरीशजी की पुस्तक में विश्लेषण और निर्णय तो है, पर उसके बाद जो क्यों, कैसे आदि के प्रश्न आधुनिक पाठक के चित्त में अपने–आप उठते हैं, इनका कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिलता। यह कोई दोष नहीं है, कमी ज़रूर है, क्योंकि गिरीशजी के विश्लेषण में कोई अन्याय नहीं हुआ और उसपर से किया हुआ उनका निर्णय अयुक्ति-संगत भी नहीं है। जैसा कि पहले ही कहा गया है, सनातनकाल से काव्य--समालोचक तीन में से एक, दो या तीनों कार्य करते आए हैं। गिरीशजी ने दो ही किए हैं। तीसरा भी करते तो गुप्तजी के प्रति उनके मन में जो एक अननुकूल भाव है, जिसका वे जानकर या अनजान में प्रत्येक अध्याय में आभास दे गए हैं, वह बहुत–कुछ कम हो जाता। शायद उस समय वे कह सकते कि गुप्तजी के समस्त आदर्श वही हैं जो उस जाति के आदर्श हैं, जिसके एक व्यक्ति वे स्वयं हैं और आधुनिक राजनैतिक वातावरण से उन आदर्शों को केवल संस्कार मिला है। गुप्तजी सोलह आना उसी मिट्टी की उपज हैं जिसके तुलसीदास या हरिश्चन्द्र थे। राजनीतिक नेताओं के आदर्श से वे चालित नहीं हुए हैं, इसका एक पक्का सबूत यह है कि जिस राष्ट्र के गठन के लिये उन्होंने लेखनी उठाई थी, उसका राजनीतिक दृष्टि से जो अर्थ होता है, 'नेशन' शब्द से जो–कुछ समझा जाता है, कोई स्पष्ट रूप उनके ग्रन्थों में नहीं मिलता। गुप्तजी के महाकाव्यों का मेरुदण्ड, जिसे हम पारिवारिक रसबोध या डोमेस्टिक सेंटीमेंट कह सकते हैं, सोलह आना स्वदेशी है। और ज़ोर देकर यह बात कही जा सकती है कि उस पर कोई राजनीतिक प्रभाव नहीं पड़ा। वृद्धावस्था में उनके भीतर भारतीय पद्धति की टाइप-रचना की ठोस गंथाई में व्यक्तित्व का प्रकाश जा पहुँचा है, उर्मिला अथवा यशोधरा के चरित्र को प्राधान्य देना ही इसका सबूत है; परन्तु वह इसलिये (जैसा कि गिरीशजी ने प्रतिपादन भी किया है) कि उनका आदर्श चरित्र साधक होता है, सिद्ध नहीं; किन्तु इस स्थान पर भी उर्मिला एक टिपिकल

भारतीय नारी है, पश्चिमी साहित्य के या आधुनिक समाज के उड़ते हुए विचारों का ठोस रूप नहीं।

३

श्री रामनाथ 'सुमन' की पुस्तक 'कवि प्रसाद की काव्य-साधना' और ही तरह की चीज़ है ; लक्ष्य करने की बात यह है कि सुमनजी और गिरीशजी दोनों ही हिन्दी के प्रायः सभी आधुनिक कवियों की समीक्षा लिखने का विचार रखते हैं; लेकिन जहाँ 'सुमन' जी को हिन्दी-समीक्षा-साहित्य की नीच-कोटिता और कमी के कारण अपना 'मार्ग भी स्वयं बनाने' का प्रयत्न करना पड़ा है, वहाँ गिरीशजी का प्रयत्न अनुत्तरदायित्वपूर्ण समालोचनाओं का बल घटाने की ओर भी रहा है। दूसरी बात जो ध्यान देने की है, वह यह कि जहाँ प्रसादजी सुमनजी के मनोनुकूल कवि हैं और इस पुस्तक के लिखने की मानसिक तैयारी वे बरसों से कर रहे थे, वहाँ गुप्तजी गिरीशजी के मनोनुकूल कवि नहीं हैं और उनके सम्बन्ध में लिखने का निश्चय भी उन्होंने बड़ी जल्दी में किया है, और जब निश्चय किया तब भी एक अच्छे जर्नलिस्ट की भाँति कई प्रश्न तैयार करके कवियों के पास पहुँचे; लेकिन फिर भी संयोग ऐसा कि गुप्तजी के पास पहुँचने पर इन प्रश्नों के उत्तर के बदले 'साकेत' की कविता सुननी पड़ी! लेकिन इन सबके ऊपर विचारने की बात यह है कि यद्यपि सुमनजी बरसों से सोच रहे थे कि पुस्तक लिखें; पर जब लिखने की नौबत आई तो ऐसी हड़बड़ी मची कि "एक ओर पुस्तक लिखी जाती रही और दूसरी ओर छपती रही"; उधर गिरीशजी को यद्यपि विचारने का समय कम मिला, पर पुस्तक प्रेस में देने के पहले उन्होंने उसे धैर्य के साथ लिखा और शायद दुहराया-तिहराया भी। इसका अवश्यम्भावी परिणाम यह हुआ कि सुमनजी की भाषा भागती हुई और शिथिल हो गई है, और गिरीशजी की जमी हुई और चुस्त। सुमनजी को भागती भाषा में सुचिन्तित विचार रखने पड़े हैं; इसलिये दोनों का सामंजस्य करना कठिन हो गया है, पर गिरीशजी को ऐसी किसी कठिनता का सामना नहीं करना पड़ा है।

लेकिन यह तो पुस्तक लिखने के विषय में भेद रहा। इससे भी अधिक गहरा भेद है वक्तव्य–विषय के स्थापन में। सुमनजी ने "अपने प्रति और कवि के प्रति सचाई और ईमानदारी का पालन करने की पूरी चेष्टा की है।" लेकिन गिरीशजी की चेष्टा शायद कवि के प्रति ही ईमानदारी के पालन करने की है। सुमनजी के कथन का अर्थ यह है कि उन्होंने केवल यह नहीं देखा है कि कवि कवि के रूप में कैसा है, बल्कि यह भी देखना चाहा है कि कवि उन्हें कैसा लगता है,अर्थात् उनके ग्रन्थ का आलोच्य आलोचक--निरपेक्ष नहीं है। इस दृष्टि से विचार किया जाय, तो गिरीशजी की आलोचना अधिक वैज्ञानिक है; और सुमनजी की कम—एकने अपने आलोच्य को ऑजेक्टिवली देखा है, दूसरेने सबजेक्टिवली। परिणाम यह हुआ है कि सुमनजी ने प्रसादजी के सम्पूर्ण रूप को सामने रखकर अपना फैसला किया है और गिरीशजी ने गुप्तजी के उत्तरोत्तर विकसित खण्ड-कार्यों का विचार करते-करते उनके समग्र रूपका निर्णय किया है, और फिर भी वैज्ञानिक सतर्कता के साथ कह रखा है कि यही निर्णय अन्तिम निर्णय नहीं है!

सुमनजी प्रसादजी के काव्य की आलोचना इस प्रकार शुरू करते हैं—"हिन्दी-कविता के कोहरे में उषा की लज्जारुण किरण की भाँति प्रसाद की कविता हमें आकर्षित करती है। उसमें पीड़ा है, पर उसमें आशा भी है। उसमें कवि-मानस में चलनेवाले युद्ध की छाया है, पर उसके साथ सन्देश भी है। उसमें परिस्थिति के प्रति विद्रोह भी है, पर जीवन के साथ समझौता भी है।...उसने संसार के साथ युद्ध भी किया है, पर युद्ध ही सत्य नहीं है, इसलिये वह संसार में जो-कुछ मृदुल और रसमय है, जो–कुछ कलेजे में लगने लायक है, उसे ग्रहण भी करता है...जीवन की सम्पूर्ण आशा, परिस्थिति की सम्पूर्ण निराशा, हृदय का उन्मादकारी आनन्द और फिर जब उस आनन्द का अन्त हो जाता है तो उसकी याद में रुदन यह सब उसमें व्यक्त हुआ है। यह कवि स्पष्ट मनुष्यों का कवि है, मानव–हृदय का कवि है।" स्पष्ट ही यह काव्य है, पर नितान्त कल्पना

ही नहीं। इस रसमय विश्लेषण को पढ़कर पाठक का चित्त क्लान्त नहीं होता; लेकिन यह आशङ्का रहती है कि कहीं इस आलोचना-काव्य से आलोच्य-काव्य अच्छादित तो नहीं हो गया है। एक प्राचीन अपवाद है कि कवि भ्रष्ट होकर आलंकारिक होता है, अर्थात् असफल कवि ही अच्छा आलंकारिक (आजकल का क्रिटिक) हो सकता है। इस बात में पूरी सचाई चाहे न हो, पर इतना ठीक है कि जिसे कवि की दृष्टि नहीं मिली, वह कवि की बात ठीक-ठीक नहीं समझ सकता। सुमनजी को कवि की दृष्टि प्राप्त है। इसीलिये वे कवि के अन्तर में प्रवेश कर सके हैं, यह समझ में आ जाता है। सवाल यह रह जाता है कि वह अन्तर में प्रवेश करा सके हैं या नहीं।

सहृदय के लक्षण में अभिनवगुप्त ने कहा है कि उसका मनोमुकुर काव्य-अनुशीलन के अभ्यास से विशद हो गया होना चाहिए। यह ध्यान में रखने की बात है कि काव्य और काव्यानुशीलनशास्त्र एक ही नहीं हैं। काव्य का सम्बन्ध जीवन से है और काव्य-शास्त्र का काव्य के विश्लेषण से। सुमनजी का हृदय 'काव्याभ्यास विशदीभूत' तो पर्याप्त है, पर 'काव्यशास्त्राभ्यास विशदीभूत' कम है—एकदम नहीं है, ऐसा कहना अन्याय है; सही बात यह है कि पहले ने दूसरे को अभिभूत कर लिया है। इसका नतीजा यह हुआ है कि काव्य का जिज्ञासु जिस बात को काव्य-शास्त्र द्वारा निर्दिष्ट एक शब्द से समझ सकता था, उसके लिये सुमनजी को रूपकों और उपमाओं का ठाट खड़ा करना पड़ा है। ऐसा करने से वक्तव्य वस्तु फेनिल तो हो गई है; लेकिन इसके लिए सहृदय को बहुत बेकार ही समय व्यय करना पड़ा है। यह सुमनजी का गुण भी है और दोष भी। गुण उन स्थानों पर, जहाँ उन्हें प्रसाद के व्यक्तित्व का और परिस्थितियों का विश्लेषण करना पड़ा है, और दोष वहाँ है, जहाँ उन्हें प्रसाद के काव्य का विश्लेषण करना पड़ा है। कविदृष्टि-समन्वित होने के कारण वे जीवन और परिस्थितियों के विश्लेषण की ओर ही अधिक झुके हैं, इसीलिये पुस्तक का अधिक भाग बहुत ही रोचक और सुन्दर हो सका

है। अगर उन्हें अधिक समय मिला होता, तो वे शेष अंश को भी ऐसा ही बना सकते थे; लेकिन हड़बड़ी में ऐसा न कर सके, तथापि सब मिलाकर उनका प्रयत्न बुरा नहीं हुआ है।

४

आलोच्य और आलोचक दोनों के अभ्यर्हितत्व की रक्षा के लिये त्रिपाठीजी की पुस्तक 'तुलसीदास और उनकी कविता' की चर्चा अब तक हो जानी चाहिए थी, प्राचीनों के नियम का तभी पालन हो सकता; पर लेख के आरम्भ में ही कुछ इस प्रकार की नींव खड़ी हो गई कि हमें आधुनिक युग के आलोच्यों और उनके आलोचकों से ही पहले निबट लेना पड़ा। कुछ बुरा भी नहीं, 'मधुरेण समापयेत्।'

सारी पुस्तक डेढ़ हज़ार पृष्ठों की होगी जिसका दो-तिहाई अर्थात् लगभग हज़ार पृष्ठ अब तक छप चुके हैं। हमारी चर्चा इतने में ही सीमित होगी। यह तो कहना ही व्यर्थ है कि इन हज़ार पृष्ठों की आलोचना दो पृष्ठों में नहीं हो सकती। फिर भी यह व्यर्थ बात जो हम कह रहे हैं, उसका कारण है। पहले भी छै सौ पृष्ठों की दो पुस्तकों की आलोचना दो पृष्ठों में करने की धृष्टता की जा चुकी है, फिर भी उनके प्रसंग में यह व्यर्थ ही नहीं कही गई, क्योंकि उन पुस्तकों और इस पुस्तक में प्रकृतिगत भेद है। वे केवल आलोचना हैं और यह अध्ययन। इसके प्रत्येक पन्ने में नये-नये मतों का सामना करना पड़ता है, पुराने मतों की आलोचना से टकराना पड़ता है, अपने विचारों को बदलना पड़ता है और ग्रन्थकार के विचारों से लड़ना पड़ता है। तुलसीदास के सम्बन्ध में इतना अच्छा अध्ययन, इतनी ज्ञातव्य बातों का एकत्र संकलन, इतनी अध्यवसाय पूर्ण छानबीन कम है। तुलसीदास के विषय में कोई बात छोड़ी नहीं गई है (और पढ़ते-पढ़ते जान पड़ता है, तुलसीदास ने भी कोई बात छोड़ी नहीं है!) और फिर भी उपस्थापन का ढंग इतना सरस है कि पाठक कहीं थकता नहीं। सप्रमाण बतलाया गया है कि तुलसीदास का

'जन्म माता-पिता के लिये पाप और परिताप का कारण हो गया था। बचपन से ही वे द्वार-द्वार बिलखते फिरते थे और चार दाने चने ही को चारों फल समझते थे। पेट की आग बुझाने के लिये उन्होंने जाति, सुजाति और कुजाति सब के घरों के टुकड़े खाये थे, मट्ठे के लिए भी लालायित रहते थे, तेल की खली और कोदों का कना पाकर भी आनन्दित होते। बालकपन में उन्हें खेलने का भी अवसर नहीं मिला। वे द्वार-द्वार बिलखते फिरे, दाँत निकालकर, पैरों पड़कर उन्होंने अपनी दीनता कही; पर किसी ने उनसे बात भी न की। हाय-हाय करके, दरवाज़े-दरवाज़े, उन्होंने अपनी ग़रीबी की पुकार की। वे मुँह खोले पड़े रहे; पर उसमें धूल भी न पड़ी। भोजन-वस्त्रादि विहीन जहाँ-तहाँ डोलते फिरे, दुष्टों के आगे भी उन्होंने पेट खोलकर दिखलाया--लोभ ने उन्हें कौन-सा नाच नहीं नचाया!' (सभी वाक्य तुलसीदास के स्वकथित वाक्यों के अनुवाद हैं।) इस प्रकार ग्रन्थ शुरू होता है। पढ़ते-पढ़ते करुणाद्रवित हृदय से पाठक भारतवर्ष के सब काल के लिये सर्वमान्य श्रेष्ठ पुरुष की बाल्यावस्था की ओर बरबस आकृष्ट हो जाता है। ग्रन्थकार बड़ी आसानी से उसके हृदय को भावी अध्ययन के लिए उत्सुक बना देता है। ग्रन्थ-भर में कहीं भी साहित्य-शोधक की बदनाम शुष्कता और 'देखो' द्वारा कंटकित पांडित्य-कण्डूयन नहीं है।

सबसे पहली बात जो इस ग्रन्थ के पढ़ने से पाठक को सोचने के लिये बाध्य करती है, वह यह है कि त्रिपाठीजी ने प्रचलित मतों के विरुद्ध यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि तुलसीदासजी का जन्म सोरों में हुआ था और उनके गुरु नरहरिदास उन्हींके सगोत्र थे। उनकी भाषा में सोरों की भाषा का यथेष्ट प्रभाव है और उनकी ससुराल सोरों के ही पास के एक गाँव में थी; नाम त्रिपाठीजीने बदरिया बताया है। त्रिपाठीजी के पहले भी जिन पण्डितों ने इस विषय की जाँच-पड़ताल की है, वे तुलसीदास के जन्मस्थान के सम्बन्ध में एकमत नहीं हो सके। इस ग्रन्थ में सोरों के सम्बन्ध में त्रिपाठीजी ने जो प्रमाण उपस्थित किए हैं,

वे कम वज़नदार नहीं हैं, वे केवल मज़ाक़ और हठवादिता के बल पर (जैसा कि आलोचकों ने किया है) उड़ा नहीं दिए जा सकते, फिर भी हम इस विषय को और भी अधिक अनुसन्धान-सापेक्ष समझते हैं। किसी अच्छी साहित्यिक संस्था को इस दिशा में भी खोज करनी चाहिए।

तुलसीदास के जीवन-चरित के जितने भी साधन उपलब्ध हैं, त्रिपाठीजी ने उन सबकी चर्चा की है। इन साधनों में एक मनोरंजक पुस्तक है 'मूल गोसाईं चरित'। यह पुस्तक बाबा बेनीमाधवदास की लिखी बताई जाती है और कुछ विद्वानों के मत से तुलसीदासजी के जीवन-चरित के सम्बन्ध में सबसे प्रामाणिक पुस्तक है। त्रिपाठीजी इसे सबसे अधिक अप्रामाणिक मानते हैं, और यह मानना ठीक भी है। इस की अप्रामाणिकता के सम्बन्ध में त्रिपाठीजी ने इसके एक छन्द में आए हुए 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' पर यह टिप्पणी की है - "इस 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' ने तो मूल चरित के आधुनिक रचयिता को अँधेरे में से खींचकर उजेले में ला खड़ा किया है। 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' संस्कृत का प्राचीन वाक्य है, पर अभी थोड़े दिनों से हिन्दीवालों में इसने प्रवेश पाया है।" त्रिपाठीजी से ज़रा-सी ग़लती हो गई है। 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' संस्कृत का प्राचीन वाक्य नहीं है; समग्र संस्कृत-साहित्य में खोजने पर भी इसका पता नहीं चलता। अठारहवीं शताब्दी के किसी फ्रेंच दार्शनिक के आदर्श-वाक्य का उन्नीसवीं शताब्दी के किसी ब्राह्मधर्मी बंगाली साधक का किया हुआ यह अनुवाद-वाक्य हिन्दीवालों में उपनिषद्-वाक्य की प्रतिष्ठा पा चुका है। इस वाक्य का होना मूल गोसाईं-चरित के जाली ग्रन्थ होने का ज्वलन्त प्रमाण है।

त्रिपाठीजी के इस संग्रहणीय ग्रन्थ के सम्बन्ध में हमें अधिक कुछ नहीं कहना है, केवल एक बात कहकर चुप हो जाना है। हिन्दी-समीक्षा के इस युग में जब कि आलोच्य कवि को सर्वशास्त्रज्ञ सिद्ध करने की प्रथा लुप्त हो आई है, उन्होंने द्वितीय भाग में जो शीर्षक दिए हैं, वे चिन्त्य हैं।

हम जो-कुछ कहना चाहते हैं, वह यह है—त्रिपाठीजी ने, मान लीजिए, शीर्षक दिया 'तुलसीदास और वनस्पति-विज्ञान' और उसके नीचे सिद्ध किया कि तुलसीदास कुछ पेड़-पौधों के नाम, रूप और प्रकृति के बारे में जानते थे, तो क्या यह कार्य पाठक को फुसलाना नहीं हुआ ? त्रिपाठीजी से अधिक अच्छी तरह कोई नहीं जानता कि वनस्पति-विज्ञान और चीज़ है और पेड़-पौधों को थोड़ा-बहुत जानना-पहचानना एकदम दूसरी । तुलसीदास पेड़-पौधों के सूक्ष्म निरीक्षक हो सकते हैं, पर ऐसा होने के लिए उनका वनस्पति-विज्ञान से सम्बद्ध होना ज़रूरी नहीं भी हो सकता । त्रिपाठीजी स्वयं इस प्रकार के प्रतिपादन से कुछ संकुचित जान पड़ते हैं । प्रस्तावना में उन्होंने इस प्रवृत्ति को उपहासास्पद बताया भी है, पर जिस कारण से वे ऐसा करने को बाध्य हुए, वह भी काफ़ी मनोरंजक है । उन्होंने तुलसीदास के एक वर्णन में देखा कि हनुमानजी ने राक्षसों को उतने ज़ोर से फेंका कि 'सूखि गे गात, चले नभ जात परे भ्रमवात न भूतल आये।' त्रिपाठीजी इसे आधुनिक विज्ञान-सम्मत समझते हैं और कहना चाहते हैं कि तुलसीदासजी इस रहस्य से परिचित थे कि वायुमण्डल के ऊपर गया हुआ पिंड पृथ्वी पर नहीं लौटता और उसके चारों ओर चक्कर मारने लगता है । यह प्रतिपादन पढ़कर हमें आश्चर्य हुआ । भारतीय साहित्य में ऐसी कहानियाँ बहुत हैं । व्यासजी ने भी महाभारत में कहीं लिख दिया था कि भीम के फेंके हुए हाथी ज़मीन पर नहीं आए, और इस बात पर सन्देह करने के कारण बेचारे जनमेजय का कुष्ठ रोग आराम नहीं होने पाया था ! हज़ारों वर्ष पहले लिखे हुए हिन्दू ग्रन्थ, सूर्यसिद्धान्त, बृहत्संहिता आदि से मालूम होता है कि ग्रहों की दैनिक गति का कारण यह है कि इस पृथ्वी के ऊपर वायु के सात स्तर हैं, कोई पृथ्वी पर है, किसी में बादल रहते हैं, किसीमें उल्कापिंड और सबसे ऊपरी स्तर की हवा, जिसे प्रवह वायु नाम दिया गया है, ग्रहों को घुमाती है । इस वायु के प्रवाह में पड़कर ग्रह चौबीस घण्टे में एक बार पृथ्वी का चक्कर लगा देते हैं । तुलसीदास का मतलब इसी भ्रमवात से है । आधुनिक विज्ञान

से अपरिचित होकर भी यह बात जानना उनके लिये कुछ कठिन नहीं था, और इसमें उनकी अलौकिक प्रतिभा क्या, कुछ भी नहीं है। यह उन दिनों की मामूली ज्योतिष का विद्यार्थी भी जानता रहा होगा। लेकिन हमारे कहने का यह मतलब नहीं कि त्रिपाठीजी ने ऐसे शीर्षक देकर जो-कुछ लिखा वह निरर्थक है। हम इतना ही कहना चाहते हैं कि ऐसे फुसलानेवाले शीर्षक से पुस्तक की गम्भीरता में कमी पड़ जाती है और पाठक सोचने का मौक़ा पाता है कि ग्रन्थकार पिछली पीढ़ी की सस्ती भावुकता का शिकार तो नहीं हो गया।

तुलसीदास के काव्य का विवेचन बहुत ही ज्ञानवर्धक और विचारोत्तेजक है। सारी पुस्तक त्रिपाठीजी के अध्ययन और अध्यवसाय का सुबूत है।

५

पिछली पीढ़ी की समालोचना से जिसमें आलोचक प्रत्येक पद पर 'कल्पना की कैसी सुन्दर उड़ान है!' 'क्या ही सुन्दर भाव हैं!'—जैसे सस्ते रिमार्क ठोंकते चलते थे, आज की समालोचना निस्सन्देह बहुत आगे बढ़ गई है। परन्तु अब भी कवि या काव्य को अपने आप में ही सम्पूर्ण समझने की प्रवृत्ति एकदम गई नहीं है। अब भी हिन्दी के विशाल समाज, जाति और मानव-समुदाय की ओर देखने की अपेक्षा रवीन्द्रनाथ या वर्ड्सवर्थ या शेक्सपियर को घसीट लाने का प्रयत्न दिखाई देता है। आलोच्य पुस्तकें इस बात का पक्का प्रमाण हैं कि हिन्दी जनता सस्ती भावुकता से ऊपर उठ गई है, उसमें गम्भीर अध्ययन और विशाल दृष्टिकोण की मर्यादा प्रतिष्ठित हो चुकी है। हिन्दी-भाषी जनता अपने कवियों का अध्ययन करने लगी है, यद्यपि अब भी कवि उसके उपलक्ष्य न होकर लक्ष्य ही बने हुए हैं और अब भी अपने ही साहित्यिकों के ज़रिये अपने-आपको समझने की प्रवृत्ति उसमें नहीं आई है। लेकिन यह दोष हिन्दी में ही नहीं है। इस नयी दृष्टि को भारतवर्ष की किसी भी भाषा ने शायद ही अपनाया हो। वह आशा की बात है कि समालोच्य समालोचनाओं

के लेखकों ने सचाई के साथ अपने-अपने विषयों का सांगोपांग और गम्भीर अध्ययन किया है। उनके विचारों में गम्भीरता और उपस्थापन में आकर्षण है। समालोचना-साहित्य नवयुग में प्रवेश कर रहा है, - दुराग्रह से रहित, भावुकता से बचा हुआ और दलबंदी के ऊपर होकर। यह उत्साहवर्धक समाचार है।

—['विशाल भारत'–जुलाई १९३८]

३

कवि के रिआयती अधिकार

ब्रजभाषा की कविता में कवि को बहुत से रिआयती अधिकार प्राप्त थे। केवल शब्दों के उच्चारण को ही उसे घटा बढ़ा देने का अधिकार नहीं था, क्रिया के विशेषण और सर्वनामों के रूप में भी यत्र-तत्र वह स्वच्छन्दता-पूर्वक परिवर्तन कर सकता था। खड़ी बोली का कवि इन सभी बातों में पराधीन है। उसे असिधारा-व्रत का निर्वाह और व्याकरण के जटिल नियमों का अनुवर्तन पग-पग पर बाधा देता है। फल यह होता है कि वह वर्ण-वृत्त में रचना नहीं कर पाता, उसे बाध्य होकर मात्रिक छन्दों की शरण जाना पड़ता है। दूसरी ओर उच्चारणसौकर्य से उर्दू का कवि वर्ण वृत्तों का निर्वाह बड़ी खूबी से कर लेता है।

हिन्दी में यह एक भ्रम-सा फैला हुआ है कि हम लोगों का उच्चारण विशुद्ध संस्कृत उच्चारण से मिलता है। अगर मिलता होता तो वर्ण वृत्तों

में खटकने वाली बात जाती रहती। हिन्दी में हम शब्दों को अकारान्त रूप में लिखते ज़रूर हैं पर पढ़ते हैं हलन्त रूप में। 'दिवस' लिखकर भी हम 'दिवस्' पढ़ते हैं। चार या पाँच अक्षर का शब्द हो तो अन्तिम अक्षर के साथ ही द्वितीय या तृतीय अक्षर को भी हम हलन्त-सा ही पढ़ते हैं। 'अवसान' का हम 'अव्सान्' या 'औसान्' जैसा उच्चारण करते हैं। इसीलिये विशुद्ध उच्चारण की कसौटी पर कसने से हम "दिवस का अवसान समीप था"[1] को हिन्दी में अन्यथा-प्रयुक्त पाते हैं। इस पद्यांश का हिन्दी उच्चारण इस प्रकार होगा :—

"दिवस्का औसान् समीप् था।"

हिन्दी के छन्दःशास्त्रियों का एक सम्प्रदाय इस प्रकार की कविता को हिन्दी का स्वाभाविक छन्द मानने को तैयार नहीं। उनकी दृष्टि में हिन्दी के कवि को ज़रा भी रिआयती अधिकार नहीं चाहिए।

उन्नीसवीं शताब्दी में हिन्दी के कवियों को रिआयती अधिकार प्राप्त थे, पर जब से कवि मैथिलीशरण गुप्त ने साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण किया, तब से यह अधिकार कवियों से छिन गया है। सम्भवतः द्विवेदीजी का हाथ भी इसमें हो, पर उनकी कविताओं में यत्र-तत्र कुछ रिआयती अधिकारों का उपयोग किया गया है। गुप्तजी के विशुद्ध उच्चारण ने संस्कृत छन्दों को हिन्दी में प्रविष्ट कराया, स्वयं उन्होंने भी इन छन्दों में कविता की; पर आज संस्कृत छन्दों का, उन्हींके सुझाये हुए हथियार के द्वारा, प्रवेश निषिद्ध कर दिया गया है। गुप्तजी तो अब भी कभी-कभी आर्या-अनुष्टुप् में कविता लिख लेते हैं, पर नई पीढ़ी इन छन्दों में कविता करना छोड़ चुकी है।

वर्णवृत्तों का वहिष्कार तो कुछ पहले से ही चल रहा था, पर कविवर सुमित्रानन्दन पन्त के 'पल्लव' के प्रकाशित होने के बाद से वह एकदम

---

१ श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'—प्रियप्रवास १-१

लुप्त हो गया है। पल्लव की भूमिका में कवि पन्त (छन्दःशास्त्री पन्त नहीं !) ने बड़ी सुन्दर विवेचना के बाद मात्रिक छन्दों को एकमात्र स्वाभाविक छन्द बताया है। हिन्दी के युवा कवियों ने पन्त की सम्मति को श्रद्धा-पूर्वक स्वीकार कर लिया है। यह मान-सा लिया गया है कि राग का अस्तित्व केवल मात्रिक छन्दों में ही रह सकता है।

जिन लोगों को युवा-कवियों के कवि-सम्मेलनों में जाने का अवसर मिला होगा वे बड़ी आसानी से यह बात समझ सके होंगे कि वही कवि कवि-सम्मेलनों के रंगमञ्च पर अधिकार जमा सकता है, जिसके गले में मिठास है, स्वर में करुण-रस का प्रवाह है। फल यह हुआ है कि करुण-रस से सभा को प्लावित कर देने की एक होड़ सी चल रही है। जो जितना ही सभा को गला देगा, उसका उतनी ही गम्भीर करतलध्वनि से स्वागत किया जायगा। इन कवि-सम्मेलनों में कविता का स्थान गौण है, संगीत का प्रधान। इसमें सन्देह नहीं कि कवि-सम्मेलन पहले की अपेक्षा उन्नत, सुरुचिपूर्ण और सुसंस्कृत हुए हैं; पर शायद अब दूसरे धातु की वृद्धि का रोग है। वीर-रस की कविता या रौद्र-रस की कविता आजकल या तो होती ही नहीं या होती भी है तो उसे करुण स्वर-लहरी का सहारा लेना पड़ता है।

मात्रिक छन्दों में जहाँ काव्य-सौकर्य है वहाँ करुण-स्वर-लहरी को अभिव्यक्त करने का विशेष गुण भी। कालिदास ने करुण-रस के लिये अन्य सभी वर्णवृत्तों को त्यागकर वैतालीय वृत्त का आश्रय लिया है, पर वह वृत्त हिन्दी में 'उष्ट्रपृष्ठवद्विसंष्ठुलम्' जान पड़ता है। जयदेव ने वियोग-शृंगार के लिये मात्रिक छन्दों को ही चुना है। वस्तुतः मात्रिक वृत्त वियोग या विरह को अभिव्यक्त करने में अपना सानी नहीं रखते। मगर कुछ ऐसे भी भाव हैं जो मात्रिक वृत्तों में फीके से जान पड़ते हैं। एक पद लीजिए—

"शान्त-सुप्त, दान्त युक्त-प्रान्त जाग जाग रे"

इस पद्य में उद्बोधन का जो झंकार है वह मात्रिक छन्दों में नहीं आ सकता।

किन्तु अड़चन केवल वर्णिक और मात्रिक वृत्तों के ग्रहण या त्याग तक ही सीमित नहीं है। मात्रिक छन्दों में भी उस प्रकार के छन्द हिन्दी के साहित्याकाश में नहीं दिखाई पड़ते, जिनका सम्बन्ध मनोवृत्तियों को विभिन्न दिशाओं में उत्तेजित करने से है। कुछ वर्णिक वृत्तों के साथ मात्रिक छन्दों को भी महज़ इसलिये जाति--बहिष्कृत कर दिया गया है कि उनमें कवि के रिआयती अधिकारों का प्रयोग हुआ है, और ऐसे छन्द हिन्दी के अपने होते हुए भी उर्दू या फ़ारसी के मान लिए गए हैं। 'प्रसाद' जी ने कुछ ऐसे जीवित छन्दों को अपने नाटकों में स्थान दिया है। पर ये छन्द अधिकतर कड़े नियमों के आधार पर लिखे गए हैं। साधारण कवियों के लिये इन छन्दों को इसी कड़ाई के साथ निबाह ले जाना दुष्कर है।

छन्दों की झनकार का आकर्षक होना हमारे कानों के अभ्यास पर निर्भर करता है। ब्रजभाषा के युग में दीर्घ वर्णों का ह्रस्ववत् उच्चारण बुरा नहीं सुनाई देता था, खड़ीबोली के युग में वह बुरा सुन पड़ता है। इसी खड़ीबोली में फ़ारसी--अरबी के दो–एक शब्द डाल देने पर यह उच्चारण–दोष भाषा का 'लचीलापन' कहलाकर गुण हो जाता है।

"हम उर्दू को अरबी क्यों न करें हिन्दी को व' भाषा क्यों न करें"[1] में दो जगह 'को' आता है पर दोनों जगह लचक सकता है। खड़ीबोली की कविता यह भी है और ऐसा एक भी शब्द नहीं है जिसके कारण यह भाषा 'हिन्दी' न कह कर उर्दू कही जाय। फिर भी यह कविता हिन्दी की नहीं उर्दू की है, इसलिये नहीं कि वह शुरू में फ़ारसी अक्षरों में लिखी गई थी, इसलिये तो और भी नहीं कि इसका छन्द उर्दू का है; बल्कि इसलिये

---

१ अकबर।

कि इसके स्वरों में लचीलापन है, जो बदनसीब हिन्दी में नहीं है ! उक्त कविता की हिन्दी लिपि इस प्रकार होगी:—

हम उर्दू को अरबी क्यों न करें
|| S| | SS S | |S
हिन्दी को व' भाषा क्यों न करें
SS | | SS S | |S

मात्रा के हिसाब से दोनों चरणों में १६, १६ मात्राएँ हैं, पर यह छन्द मात्रिक नहीं है। रेखांकित लिपियों में जहाँ दो दो गुरु हैं, वहाँ वस्तुतः दो लघु और एक गुरु होना चाहिए। इस प्रकार यह छन्द चार सगणों से बनता है, अर्थात् हिन्दी का तोटक छन्द है। इस छन्द का प्रयोग संस्कृत में बहुत हुआ है—

'हसनं मधुरं वसनं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्"

हिन्दी में स्वयं गोस्वामीजी ने इसका प्रयोग किया—

"भज राम रमा-रमनं शमनम्"

हिन्दी में इसका द्वित्व करके सवैया का रूप दिया गया है जिसका प्रयोग ब्रजभाषा में खूब हुआ है:—

"कवि ठाकुर प्रीति करी है गुपाल सों टेरि कहौं सुनो ऊंचे गले"

वर्तमान युग में स्वयं मैथिलीशरणजी ने इसका प्रयोग किया है—

"विचरें जितने जन हैं इसमें सबका उपहास हुआ सम है।"

बीच में आई हुई कवि ठाकुर की कविता को तब तक छोड़िए, बाकी संस्कृत और हिन्दी के छन्दों में दो बातें लक्ष्य करने की हैं। पहली तो यह कि हर आठवीं मात्रा पर स्वर का झुकाव होता है, और दूसरी यह कि सगण को विशुद्ध उच्चारण की कसौटी पर खरा उतारने की चेष्टा की गई

है। उर्दू का कवि इस बात की ओर से एक दम निश्चिन्त है। क्योंकि उसे छन्द:शास्त्र की मर्यादा की उतनी परवा नहीं है जितना अपनी भाषा के लचीलेपन पर विश्वास। वह केवल गुरु को लघु की भाँति उच्चारण करने भर का ही अधिकार नहीं रखता, बल्कि उसे प्रसृत करके दो लघु वर्णों के स्थान पर भी प्रयोग कर सकता है। छन्द:शास्त्र की मर्यादा के अनुसार सगणों की संख्या अगर दुरुस्त रखना हो तो उक्त कविता को इस प्रकार पढ़िए :—

"हम उर् दुक' अर् वि ऽ क्यों न करें
हिनदी क' व' भा षा ऽ क्यों न करें।"

अब विचार कीजिए कि इस कवि को कितना रिआयती अधिकार मिला है। दूसरी ओर असिधारावालों की हालत देखिए—

"जितने जन इसमें विचरे हैं, सब का सम उपहास हुआ है।"

खड़ीबोली का यही गद्य पद्य के रूप में ढाला गया है। लिखने की प्रथा में दोष होने के कारण खड़ीबोली का वर्तमान कवि इस भ्रम में पड़ गया है कि 'जितने' के 'त' में 'जन्' के 'न' में, 'इस' के 'स' में और 'सब' 'सम' और 'उपहास' के 'ब' 'म' और 'स' में अ है। पर बात यह नहीं है। एक और भ्रम भी हुआ है। वह यह कि 'ओ' और 'ए' संस्कृत की भाँति केवल दीर्घ वर्ण हैं। वे ह्रस्व हो ही नहीं सकते।

लौकिक संस्कृत में 'ए' 'ओ' 'ऐ' 'औ' कभी ह्रस्व नहीं होते। इन्हें 'सन्ध्यक्षर' कहा जाता है। पर ज़रा-सा ध्यान देने से ही स्पष्ट हो जायगा कि ए और ओ के वर्तमान संस्कृत उच्चारण में सन्ध्यक्षरत्व नाम को भी नहीं है। ये घिस-घिसाकर स्वतन्त्र स्वर हो गए हैं। प्रातिशाख्यों के पण्डितों का विचार है कि प्राचीन युग में 'ए' और 'ऐ' का उच्चारण 'अइ' और 'आइ' जैसा होता था। इसी तरह 'ओ' और 'औ' का उच्चारण

'अउ' और 'आउ' जैसा हुआ करता था।[1] इस विचार का समर्थन संधि के नियमों को देखकर भी होता है—

इ + अ = य इसलिये अ + इ + अ = अय (१)
उ + अ = व ,, अ + उ + अ = अव (२)
किन्तु अ + इ = ए और अ + उ = ओ
इसलिये ए + अ = अय [नियम (१) से]
और ओ + अ = अव [नियम (२) से]

इस प्रकार 'ए' और 'ओ' के साथ तो उक्त नियम का निर्वाह हो जाता है। मगर यही नियम 'ऐ' और 'औ' के साथ ठीक नहीं बैठता। ए का गठन अ और इ के योग से हुआ है, इसलिये स्वरवर्ण के आगे होने पर 'अय्' का हो जाना स्वाभाविक है पर ऐ + अ=आय क्यों होगा ? ऐ तो आ और इ के योग से नहीं बना। इसी तरह औ + अ = आव क्यों होगा ? यह किसी प्रकार नहीं समझाया जा सकता। समझाने का एकमात्र उपाय यह है कि ए का उच्चारण 'अइ' से मिलता-जुलता मान लिया जाय और ऐ का उच्चारण 'आइ' से। इसी तरह ओ और औ का उच्चारण क्रमशः अउ और आउ समझ लिया जाय। ऐसा मानने से संधि का वैज्ञानिक समर्थन मिल जाता है।

जल-वायु के प्रभाव से कहिए या रक्त-संमिश्रण से, नादयन्त्र के परिवर्तन से कहिए या अनार्य भाषाओं के संघर्ष से भारतवर्ष में कुछ दिनों तक रहने के बाद ही आर्यों के उच्चारण में अन्तर पड़ने लगा था। पुराने ज़माने में ही इसका आभास पाया जाता है। आर्य-पूर्वजों ने इस उच्चारण-वैषम्य को लक्ष्य किया था। प्रातिशाख्यों और शिक्षा की रचना इसका प्रमाण है। कुछ ही दिनों में लौकिक संस्कृत का उच्चारण अन्य प्रकार का हो उठा, जिसके कारण पुराने संधि के नियमों का नये संस्कृत उच्चारण से मेल बैठाना असम्भव हो गया, जिसका परिणाम शब्द के

१ सन्ध्यक्षर तत्व, म० म० विधुशेखर भट्टाचार्य।

सुबन्त, तिङन्त, कृदन्त आदि रूपों पर भी पड़ा। नतीजा यह हुआ कि नियम की अपेक्षा अपवादों की संख्या ही अधिक हो गई।

संस्कृत में उच्चारण का जो परिवर्तन हुआ था वह हिन्दी में ज्यों का त्यों न रह सका। यह समझना बड़ी भारी भूल है कि हमारी भाषा का संस्कृत के साथ एकात्मक सम्बन्ध है। इसमें सन्देह नहीं कि आज हमारे अन्दर जो थोड़ा बहुत आर्य-तत्व बच रहा है उसमें भाषा मुख्य है। पर जिस प्रकार हमारी संस्कृति ऊपर से आर्य-संस्कृति की तरह दिखाई देने पर भी भीतर ही भीतर अनार्याक्रान्त हो गई है, ठीक उसी प्रकार हमारी भाषा का ऊपरी ठाट आर्य-सा दिखाई देनेपर भी भीतर ही भीतर उसमें अनेक आर्येतर तत्व घुस गए हैं। हमारी भाषा का उच्चारण तो बहुत कुछ इस तत्व से प्रभावित हुआ ही है, उसका राग, उसका छन्द, उसकी संघट्टना, उसकी स्वर-वृत्ति अधिकांश में आर्येतर प्रभावाक्रान्त हैं। हिन्दी की असली नाड़ी पहचाननी है तो महर्षि पिंगल का ध्यान तब तक छोड़कर ग्राम-गीतों में अनुसन्धान कीजिए। और इन ग्राम-गीतों की असली नाड़ी पहचाननी हो तो आर्य-छन्दों की आलोचना करके देखिए कि इसमें कितना आर्य-तत्व है कितना अनार्य। मेरा विश्वास है कि आपको उसमें सौ नहीं तो नब्बे फ़ी सदी अनार्य-तत्व ज़रूर मिलेंगे।

संस्कृत के लौकिक छन्दों में भी यह प्रभाव है। हमारे सुयोग्य भाषा-तत्वज्ञ मित्र श्री मनोमोहन घोष ने "इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली" में एक लेख लिखकर सिद्ध किया था कि पिंगल छन्दःसूत्र का उत्तर भाग बहुत बाद का है। एक विदेशी विद्वान को तो यहाँ तक कह सकने का साहस हुआ है कि पिंगल छन्दःसूत्र का लौकिक अंश शुरू में प्राकृत में लिखा गया था! जयदेव के मधुर छन्दों के बारे में कहा गया है कि वस्तुतः उसकी भाषा प्राकृत थी, पीछे से वह संस्कृत कर दी गई थी। इसमें सन्देह नहीं कि जयदेव ने यत्र-तत्र संस्कृत के विषम असिधारा-व्रत की उपेक्षा की है। इस परम्परा के अध्ययन से जाना जा सकता है कि अपने उच्चारण को विशुद्ध संस्कृत से मिलता हुआ समझना भूल है।

हिन्दी के अपने स्वर हैं, अपने छन्द हैं और हैं अपने राग। अगर संस्कृत उच्चारण के साथ हिन्दी का गँठबन्धन किया जायगा तो उसकी वही अवस्था होगी जो वैदिक उच्चारण के साथ लौकिक संस्कृत छन्दों के गँठबन्धन से हुई। वह क्रमशः जीवित भाषा से दूर होती जायगी और अन्त में मृत हो जायगी।

गुजराती में संस्कृत छन्दों का प्रयोग अब भी होता है, पर सुना है, वहाँ के मनीषी इससे चिन्तित हो उठे हैं। बँगला में एक बार संस्कृत छन्दों में रचना करने की हवा चली थी; लेकिन वह अब एकदम बन्द है। हिन्दी में भी उसका बहिष्कार हो चुका है; पर छन्दों का बहिष्कार तो बहिष्कार नहीं है। पर छन्दों के बहिष्कार का सच्चा अर्थ है उच्चारण की यथार्थता का रक्षण। गाँवों के गानों में अनेक संस्कृत के वर्णवृत्त हैं, पर उच्चारण की विशेषता के कारण उन्हें पहचाना ही नहीं जा सकता। हमारे सौभाग्य से पं० रामनरेश त्रिपाठी का ग्राम-गीत-संग्रह हमारे सामने है, पर दुर्भाग्य-वश उसकी स्वर-लिपि न होने से छन्दों का यथार्थ वर्गीकरण नहीं हो सकता। फिर भी कामचलाऊ तो हो ही जायगा। सबसे पहले एक बँगला छन्द को लीजिये। यह संस्कृत का छन्द है पर बँगला उच्चारण की इस पर वह छाप है कि यह थोड़ी देरके लिये समझ ही नहीं पायेंगे कि यह संस्कृत छन्द है या बँगला।

'ओ गो फुटलो गो फुटलो गो नवीन कमल्।
। । S । । S । । ।। । । S
ओ गो जुटलो गो जुटलो गो नव अलिदल् ॥'[1]
। । S । । S । । ।। । S ।

यह वही छन्द है—

हम उर्दू को अरबी क्यों न करें, हिन्दी को व भाषा क्यों न करें

---

१ श्री सत्येनदत्त

या

हसनं मधुरं वसनं मधुरं मधुराधिपतेरखिलंमधुरम् ।

और

विचरे जितने जन हैं इसमें सबका उपहास हुआ सम है ।

संस्कृत के इसी छन्द से बँगला और उर्दू के छन्दों को मिलाइए, और फिर हिन्दी के छन्द को मिलाइए । चारों भाषाओं के छन्द एक ही हैं । मगर पहली दो भाषाओं में उच्चारण की स्वाभाविकता के कारण वे अलग से प्रतीत होते हैं, पर हिन्दी में यह महज़ नक़ल है, सो भी उच्चारण को बिगाड़कर । उर्दू का कवि भी दीर्घ स्वर को प्रसारित करके दो ह्रस्व कर सकता है और बँगला का कवि भी वैसा करने में स्वतन्त्र है (रेखांकित पदों को देखिए) पर ग़रीब हिन्दी का कवि न तो दीर्घ स्वर को दो ह्रस्वों में बदल सकता है और न एक ह्रस्व-स्वर के रूप में उच्चारण कर पाता है ! करता है हलंत वर्ण का स्वरान्त उच्चारण, पर यह समझकर कि वस्तुतः वह ऐसा नहीं कर रहा है !

कुछ स्थान पर इस समय भी खड़ी बोली में जो गुरुवर्ण लघु की भाँति या लघुवर्ण गुरुकी भाँति उच्चरित होते हैं वे हिन्दी की उच्चारण-स्वतन्त्रता के प्रमाण हैं । एक कवि कहता है—

" उन्हें मत छेड़ अरे अनजान "[1]

यहाँ 'न्हें' के पूर्व में होने के कारण 'उ' गुरु होना चाहिए था पर नहीं हुआ । पर दूसरे कविने लिखा है—

"जब न जगतमें रहती है नन्हें जीवन की कुछ भी याद ।"[2]

यहाँ 'न्हें' का पूर्ववर्ती 'अ' नियमानुसार गुरु है पर दोनों कवियों में से किसी का प्रयोग अशुद्ध नहीं कहा जा सकता । एक कवि कहता है—

१ माधवी, २ श्री 'सुरेन्द्र' जी : गूढ़ ।

'अमृत वर्षा कर करते हो तुम कितना कल्याण !'[1]

यहाँ अमृत' शब्द 'अम्रित' की भाँति उच्चरित हुआ है, फलतः पूर्व स्वर गुरु हो गया है। संस्कृत में उसे किसी प्रकार गुरु नहीं किया जा सकता। इन्हीं अपवादों से भाषा की स्वाभाविकता का पता चल सकता है।

इस सारी विवेचना का निष्कर्ष यही है कि खड़ी बोली के कवि को रिआयती अधिकारों का न मिलना कुछ गर्व की बात नहीं है, दोष हो सकता है।

लौकिक संस्कृत के छन्द, सन्धि और समास के बल पर एक विशेष प्रवाह में बहते हैं।

" मेघैर्मेदुरमंबरम् वनभुवः श्यामास्तमालद्रुमैः "[2]

इसको धीरे-धीरे पढ़िये। चार विषम स्थानों के स्वर प्रावण्य को लक्ष्य कीजिए तो जान पड़ेगा कि सन्धि और समास के कारण छन्द में कैसा अभिनव प्रवाह आ गया है। पर लौकिक संस्कृत के कवि को बाध्य होकर इन दो शास्त्रों का सहारा लेना पड़ता है। इनके बिना उसका असिधारा-व्रत निभ ही नहीं सकता—

"प्रचुर--पुरन्दर--धनुरनुरंजित--मेदुर—मुदिर सुवेशम्।"[3]

की सारी शोभा (जहाँ तक छन्द का सम्बन्ध है) समास के ऊपर निर्भर है। पर जब संस्कृत जीवित जाति की जीवित भाषा थी. तो उसके कवि को भी बँगला और उर्दू के समान रिआयती अधिकार प्राप्त थे। वैदिक छन्द इसके प्रमाण हैं। उस समय ज़रूरत पड़ने पर एक वर्ण को तोड़कर दो किया जा सकता था और छन्दःशास्त्रियों को इसमें कोई आपत्ति नहीं थी।[4] सुप्रसिद्ध गायत्री मन्त्र में 'वरेण्यम्' को तोड़कर 'वरेणियम्' बनाकर छन्दः शास्त्रियों का सन्तोष साधन किया जाता है।

---

१ श्री सोहनलाल द्विवेदी : स्वागत, २, ३, जयदेव : गीत गोविन्द, ४ पिंगल छन्दः सूत्र।

फिर क्यों न हिन्दी के कवियों को रियायती अधिकार मिलें ?

शायद हिन्दी के कुछ ऐसे छन्द अवश्य हैं जो रिआयती अधिकार के अभाव में ही भले जान पड़ते हैं। मगर यह बात तो कवि की इच्छा पर होनी चाहिए कि वह कला के सौन्दर्य में भाषा और भाव का सामंजस्य रखते हुए रिआयती अधिकारों का प्रयोग करे या न करे। कुछ ऐसे भी तो छन्द हैं जिनमें रिआयती अधिकारों का अभाव कृत्रिमता ला देता है।

"कब राका बनेगी हमारी कुहू ओ कुहू कुहु बोलनेवाली बता !"[1]

असिधरा-व्रत व्यर्थ का प्रयास होता। इसके इसी रूप में सहज प्रभाव है।

अन्तमें हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि ऊपर जिन दो कवियों[2] की कविता का उल्लेख किया गया है उनकी कविता को हम हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधि समझते हैं। इस अमृत के लिये अपने को हम हिन्दी के किसी प्रेमी से कम पिपासु समझने को तैयार नहीं। उनके कुछ छन्दों के उच्चारण को अगर हम उचित नहीं समझते, तो इसका यह मतलब कदापि नहीं कि हम उनके भक्त नहीं हैं। उनकी कविताओं के उक्त दोष इस बात के प्रमाण में हैं कि हिन्दी कवि को रिआयती अधिकार अवश्य मिलने चाहिएँ। इन बातों को रिआयती अधिकार के अन्तर्गत भी माना जा सकता है।

—[जायसवाल युवक]

---

१ हितैषी : कोयल, २ अयोध्यासिंह उपाध्याय और मैथिलीशरण गुप्त।

४

प्रेमचन्द का महत्त्व

प्रेमचन्द के सम्बन्ध में जिज्ञासा का अर्थ यह है कि प्रेमचन्द ने दुनिया को क्या दिया है और इस दान में नवीनता या ताज़गी क्या है; फिर प्रेमचन्द ने संसार को किस नये दृष्टि-कोण से देखा है और वह दृष्टि-कोण किस सत्य को अभिव्यक्त करता है क्योंकि आज की दुनिया में जिस लेखक के वक्तव्य और दृष्टि-कोण में कोई ताज़गी नहीं, कोई ऐसी ताक़त नहीं जो हमारे पूर्ववर्ती संस्कारों और विचारों को झकझोर डाले तो उसके औचित्य को स्वीकार ही नहीं किया जाता। वह ज़माना बीत गया जब लेखक सदा सशंक रहता था कि उसके विचार को कोई नया या श्रुति-बाह्य न कह दे, जब वह अपने नये से नये विचार में श्रुति-वाक्य को पुरानी खूँटी पर टाँग दिया करता था। अब ज़माना बदल गया है। हम विचारों और वक्तव्य वस्तु की ताज़गी की सबसे पहले जाँच करना चाहते हैं और आख़िर प्रतिभा नव-नवोन्मेषशालिनी शक्ति को ही तो कहते हैं। किसी ग्रंथ या ग्रंथकार ने अगर पुरानी बातों को ही दुहराया, तो हमारे लिये उसमें आकर्षण ही क्या रहा! परन्तु मैं साहस पूर्वक एक तीसरी वस्तु की ओर भी इशारा करना चाहता हूँ जो किसी ग्रंथ या ग्रंथकार के औचित्य की नियामक हो सकती है।

इस तीसरी वस्तु को जानने से पहले संसार की वर्तमान परिस्थिति को एक बार सोच कर देखें। विज्ञान की उन्नति से प्राचीनकाल में दुर्लंघ्य समझी जानेवाली प्राचीरों का पतन हो चुका है; देशों, राष्ट्रों और जातियों की संकीर्ण सीमाएँ टूट गई हैं। परन्तु जड़ सीमाएँ जितनी जल्दी टूटती हैं, चेतन सीमाएँ उससे अधिक समय लेती हैं। हमारे मध्य-युग के संस्कार उसी मात्रा में नहीं टूट पाए हैं और इसीलिये विज्ञान ने जहाँ जड़ सीमाओं को तोड़कर जातियों को अत्यन्त निकट कर दिया है, वहाँ प्राचीन

संस्कारों के चश्मे से देखनेवाली जातियों में परस्पर ग़लतफ़हमी अविश्वास और जिज्ञासा के भाव अत्यन्त प्रबल हो गए हैं। आज से सौ वर्ष पहले संसार में इतनी जघन्य मारा-मारी, काटा-काटी नहीं थी। एक दूसरे के प्रति यह अविश्वास ग़लतफ़हमी से पैदा होता है। तीन दिन में सारे मुल्क का चक्कर लगा आनेवाले टूरिस्ट महानुभावों की पुस्तकें अग्नि में घी का काम करती हैं। ग़लतफ़हमी दिन-दूनी रात चौगुनी बढ़ रही है। बड़ी-बड़ी सरकारें इसे रोकने में असमर्थ हो गई हैं। रोकने में असमर्थ होकर वे अनुभव कर चुकी हैं कि न तो वे अपने देश के विषय में फैलाई हुई ग़लतफ़हमियों को दूर ही कर सकती हैं और न दूसरे के विषय में फैलाई हुई भ्रान्त धारणाओं का निराकरण ही। इसलिये वे स्वयं अपने देश को दूसरों की दृष्टि में उठाने के लिये असत्य बातों का प्रचार करने लगी हैं। वे घृणा को प्रेम, हिंसा को विश्वमैत्री और मानव-संहार को सभ्यता का प्रचार कहकर विज्ञापित करने लगी हैं। यह एक दूसरी बाधा खड़ी हो गई है, पर इतना ही नहीं है। यह मान लिया गया है कि अपने को दूसरों की दृष्टि में उठाने के लिये केवल आत्म-प्रशंसा ही पर्याप्त नहीं है, दूसरे की निन्दा भी आवश्यक है। इस तरह सुसंगठित साम्राज्यों के प्रचार-विभागों ने और भी विष-बीज बो दिए हैं। इस बात को अगर अपने सामने रख कर विचार करेंगे तो आप हमारे साथ निश्चय ही एकमत होंगे कि जो ग्रंथ या ग्रंथकार किसी जाति को सच्चे रूप में उपस्थित करता है, उसके गुण-दोषों को ईमानदारी के साथ अभिव्यक्त कर सकता है, वह संसार की सबसे बड़ी सेवा करता है। यही वह तीसरी वस्तु है जिससे मैं किसी ग्रंथ या ग्रंथकार के औचित्य का निर्णय करता हूँ। इस प्रकार प्रेमचन्द के सम्बन्ध में आपकी जिज्ञासा का अर्थ यह हुआ कि आप जानना चाहते हैं कि उन्होंने जिस साहित्य की सृष्टि की रचना की है उसके उपादान क्या हैं और उसको उन्होंने किस दृष्टि से देखा है और इन दोनों बातों में नवीनता क्या है। इसके सिवा तीसरी बात जो आप

जानना चाहते हैं वह यह है कि इस लेखक के सृष्ट साहित्य में संसार में फैली हुई ग़लतफ़हमी को कम करने की ताकत है या नहीं।

कोई भी महान् ग्रंथ अपने लेखक के दिमाग से, उसके हृदय से और उसके रक्त-मांस से निकला होता है, जैसा कि मिल्टन ने कहा है—"श्रेष्ठ साहित्य मानो किसी महान् आत्मा की अनमोल संजीवनी रक्त-शक्ति है।" इसीलिये ग्रंथ को जानने से पहले ग्रंथकार के व्यक्तित्व के साथ परिचय होना बहुत ज़रूरी है। विशेषकर प्रेमचन्द जैसे ग्रंथकार के विषय में, जो कल्पना द्वारा गढ़े हुए जीवों में विश्वास ही नहीं रखते थे, तो यह व्यक्तिगत परिचय नितान्त आवश्यक है। वे स्वयं कहते हैं कि "कल्पना के गढ़े हुए आदमियों में हमारा विश्वास नहीं है। उनके कार्यों और विचारों से हम प्रभावित नहीं होते। हमें इसका निश्चय हो जाना चाहिए कि लेखक ने जो सृष्टि की है, वह प्रत्यक्ष अनुभवों के आधार पर की है, या अपने पात्रों की ज़बान से वह खुद बोल रहा है।" इसके सिवा किसी रचना का सम्पूर्ण आनन्द पाने के लिये रचयिता के साथ हमारा घनिष्ठ परिचय और सहानुभूति मनुष्यता के नाते भी आवश्यक हैं। हमें ग्रंथकार को व्यक्ति के रूप में ही पहले जानना चाहिए। आलोचक होने से पहले हमें उसका ऐसा विश्वसनीय मित्र होना चाहिए जो उसकी बातों को सहानुभूति के साथ सुने। इसलिये आपकी जिज्ञासा को सन्तुष्ट करने के पहले प्रेमचन्द के व्यक्तित्व का एक साधारण सा परिचय दूँ तो मैं क्षम्य समझा जाऊँगा।

प्रेमचन्द का जन्म बनारस के पास ही एक गाँव में एक निर्धन परिवार में हुआ था। उन्होंने आधुनिक शिक्षा पाई नहीं थी, बटोरकर संग्रह की थी। मैट्रिक पास करते-करते उनकी आर्थिक स्थिति यहाँ तक पहुँच चुकी थी कि अपना निर्वाह वे पुरानी पुस्तकें बेचकर भी नहीं कर सकते थे। उन्होंने स्कूल में मास्टरी कर ली थी और स्कूलों के डिप्टी इंस्पेक्टर होने तक की अवस्था तक पहुँच चुके थे। महात्मा गान्धी की पुकार पर उन्होंने सरकारी नौकरी छोड़ दी और जीवन की अन्तिम

घड़ियों तक कशमकश और संघर्ष का जीवन बिताया । वे दरिद्रता में जनमें, दरिद्रता में पले और दरिद्रता से ही जूझते-जूझते समाप्त हो गए । फिर भी वे अपने काल में समस्त उत्तरी-भारत के सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक थे । आप चाहें तो इस घटना से उस समाज की साहित्यिक क़द्रदानी का भी अन्दाज़ लगा सकते हैं जिसका सर्वश्रेष्ठ वे संसार को सुनाने के लिये व्याकुल थे । उन्होंने अपने को सदा मज़दूर समझा । बीमारी की हालत में भी, मृत्यु के कुछ दिन पहले तक भी वे अपने कमज़ोर शरीर को लिखने के लिये मजबूर करते रहे । मना करने पर कहते "मैं मज़दूर हूँ, मज़दूरी किये बिना मुझे भोजन करने का अधिकार नहीं" । उनके इस वाक्य में अभिमान का भाव भी था और अपने नाक़द्रदान समाज के प्रति एक व्यंग भी । लेकिन असल में वे इसलिये नहीं लिखते थे कि उन्हें मज़दूरी करना लाज़िमी था बल्कि इसलिये कि उनके दिमाग में कहने लायक इतनी बातें आपस में धक्का-मुक्की करके निकलना चाहती थीं कि वे उन्हें प्रकट किये बिना रह ही नहीं सकते थे । उनके हृदय में इतनी वेदनाएँ, इतने विद्रोह-भाव, इतनी चिनगारियाँ भरी थीं कि वे उन्हें सम्हाल नहीं सकते थे । उनका हृदय अगर इन्हें प्रकट न कर देता तो वे शायद और भी पहले बन्धन तोड़ देते । विनय की वे साक्षात् मूर्ति थे, परन्तु यह विनय उनके आत्माभिमान का कवच था । वे बड़े ही सरल थे, परन्तु दुनिया की धूर्तता और मक्कारी से अनभिज्ञ नहीं थे, उनके ग्रंथ इस बात के प्रमाण हैं । ऊपर—ऊपर से देखने पर अर्थात् राजा-महाराजा, सेठ—साहूकारों के साथ तुलना करने पर वे बहुत निर्धन थे, लोग उनकी इस निर्धनता पर तरस खाते थे, परन्तु वे स्वयं नीचे की ओर देखनेवाले थे । लाखों और करोड़ों की तादाद में फैले हुए भुक्खड़ों, दाने—दाने को और चिथड़े—चिथड़े को मुहताज लोगों की वे ज़बान थे । उन्हें भी देखते थे इसलिये अपने को निर्धन समझकर हाय—हाय नहीं करते थे । इसको वे वरदान समझते थे । दुनिया की सारी जटिलताओं को समझ सकने के कारण ही वे निरीह थे, सरल थे । धार्मिक ढकोसलों को वे ढोंग समझते थे,

पर मनुष्यता को वे सबसे बड़ी वस्तु समझते थे। उन्होंने ईश्वर पर कभी विश्वास नहीं किया फिर भी इस युग के साहित्यिकों में मानव की सद्-वृत्तियों में जैसा अडिग विश्वास प्रेमचन्द का था वैसा शायद ही और किसी का हो। असल में यह नास्तिकता भी उनके दृढ़ विश्वास का कवच थी। वे बुद्धिवादी थे और मनुष्य की आनन्दिनी वृत्ति पर पूरा विश्वास करते थे। 'गोदान' नामक अपने अन्तिम उपन्यास में अपने एक पात्र के मुँह से वे मानों अपनी ही बात कह रहे हैं—'जो यह ईश्वर और मोक्ष का चक्कर है इस पर तो मुझे हँसी आती है। यह मोक्ष और उपासना अहंकार की पराकाष्ठा है, जो हमारी मानवता को नष्ट किए डालती है। जहाँ जीवन है क्रीडा है चहक है, प्रेम है, वहीं ईश्वर है और जीवन को सुखी बनाना ही मोक्ष है और उपासना है। ज्ञानी कहता है होठों पर मुस्कराहट न आये, आँखों में आँसू न आये। मैं कहता हूँ अगर तुम हँस नहीं सकते और रो नहीं सकते तो तुम मनुष्य नहीं पत्थर हो। वह ज्ञान जो मानवता को पीस डाले, ज्ञान नहीं कोल्हू है।' ऐसे थे प्रेमचन्द—जिन्होंने ढोंग को कभी बर्दाश्त नहीं किया, जिन्होंने समाज को सुधारने की बड़ी बड़ी बातें सुझाई ही नहीं, स्वयं उन्हें व्यवहार में लाए; जो मनसावाचा एक थे; जिनका विनय आत्माभिमान का संकोच महत्व का निर्धनता निर्भीकता का, एकान्त-प्रियता विश्वासानुभूति का और निरीह भाव कठोर कर्तव्य का कवच था, जो समाज की जटिलताओं की तह में जाकर उसी टीमटाम और भम्भड़पन का पर्दा फ़ाश करने में आनन्द पाते थे और जो दरिद्र किसान के अन्दर आत्म-बल का उद्घाटन करने को अपना श्रेष्ठ कर्तव्य समझते थे; जिन्हें कठिनाइयों से जूझने में मज़ा आता था जो तरस खानेवाले पर दया की मुस्कराहट बखेर देते थे, जो ढोंग करनेवाले को कसके व्यंग्यबाण मारते थे और जो निष्कपट मनुष्यों के चेरे हो जाया करते थे। जो मानो अपने विषय में कहते थे - 'जिन्हें धन-वैभव प्यारा है, साहित्य-मंदिर में उनके लिए स्थान नहीं है। यहाँ उन उपासकों की आवश्यकता है जिन्होंने अपने जीवन की सार्थकता सेवा में ही मान ली हो, जिनके

दिल में दर्द की तड़प हो और मुहब्बत का जोश हो। अपनी इज़्ज़त तो अपने हाथ है। अगर हम सच्चे दिल से समाज की सेवा करेंगे तो वर्तमान प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि हमारा पाँव चूमेगी। फिर मान-प्रतिष्ठा की चिंता हमें क्यों सतावे? और इनके न मिलने पर हम निराश क्यों हों? हमें समाज पर अपना बड़प्पन जताने, उस पर रोब जमाने की हविस क्यों हो?......हम तो समाज का झण्डा लेकर चलनेवाले सिपाही हैं और सादी ज़िंदगी के साथ ऊँची निगाह हमारा लक्ष्य है। जो आदमी सच्चा कलाकार है, वह स्वार्थमय जीवन का प्रेमी नहीं हो सकता, उसे अपनी मनस्तुष्टि के लिए दिखाव की आवश्यकता नहीं, उससे तो उसे घृणा होती है।"

प्रेमचन्द आत्माराम थे।

२

अब हमें एक-एक करके अन्य जिज्ञास्य वस्तुओं की जाँच करना है। सबसे पहिले यही विचार किया जाय कि प्रेमचन्द ने क्या कहा है, उन्होंने जिस कलात्मक वस्तु की रचना की है उसके मूल उपादान क्या हैं; क्योंकि आज की दुनिया में, जब कि हमें प्रत्येक बात के लेने में जल्दी करनी पड़ रही है, पहले यह जान लेना ही ज़रूरी है कि माल किस चीज़ का बना है। अर्थात् पहले हमें यह जान लेना होगा कि जो गहना हमारे सामने बन कर आया है, वह सोने का है या ताँबे का, फिर दूसरा प्रश्न हमारा यह होगा कि जिस चीज़ को दुनिया में अंगूठी या हार कहते हैं यह वही है या और कुछ। इसी तरह प्रधान बात यह है कि ग्रंथकार के वक्तव्य वस्तु का मौलिक उपादान क्या है? यह बात गौण है कि वह कहानी कहे जानेवाले साहित्य के अन्दर आता है या नाटक। अगर वह दुनिया भर के अब तक स्वीकृत हो चुके साहित्यिक नामों में न भी आता हो, कोई एकदम अभिनव ढंग की रचना हो, तो भी यदि वह खरे माल से बना होगा तो हमें पछताने की ज़रूरत नहीं रहेगी।

प्रेमचन्द शताब्दियों से पद–दलित, अवमानित और निष्पेषित कृषकों की आवाज़ थे। पर्दे में क़ैद, पद-पद पर लांछित और असहाय नारी-जाति की महिमा के ज़बरदस्त वकील थे। ग़रीबों और बेक़सों के महत्व के प्रचारक थे। अगर उत्तर-भारत की समस्त जनता के आचार-विचार, भाव-भाषा, रहन-सहन, आशा-आकांक्षा, दुःख–सुख और सूझ-बूझ को जानना चाहते हैं तो मैं आपको निःसंशय बता सकता हूँ कि प्रेमचन्द से उत्तम परिचायक आपको नहीं मिल सकता। झोपड़ियों से लेकर महलों तक, खोमचेवालों से लेकर बैंकों तक, गाँव–पंचायतों से लेकर धारा–सभाओं तक, आपको इतने कौशलपूर्वक और प्रामाणिक भाव से कोई नहीं ले जा सकता। आप बेखटके प्रेमचन्द का हाथ पकड़ कर मेड़ों पर गाते हुए किसान को, अन्तःपुर में मान किये प्रियतमा को, कोठे पर बैठी हुई वारवनिता को, रोटियों के लिए ललकते हुए भिखमंगों को, कूट परामर्श में लीन गोयन्दों को, ईर्ष्यापरायण प्रोफेसरों को, दुर्बल–हृदय बैंकरों को, साहस-परायण चमारिन को, ढोंगी पण्डित को, फरेबी पटवारी को, नीचाशय अमीर को, देख सकते हैं और निश्चिन्त होकर विश्वास कर सकते हैं कि जो कुछ आपने देखा है वह गलत नहीं है, उससे अधिक सचाई से दिखा सकनेवाले परिदर्शक को अभी हिन्दी–उर्दू की दुनिया नहीं जानती। परन्तु सर्वत्र ही आप एक बात लक्ष्य करेंगे। जो संस्कृतियों और सम्प्रदायों से लद नहीं गये हैं, जो अशिक्षित और निर्धन हैं, जो गंवार और जाहिल हैं, वे उन लोगों की अपेक्षा अधिक आत्म–बल रखते हैं और अधिक न्याय के प्रति सम्मान दिखाते हैं जो शिक्षित हैं, जो सुसंस्कृत हैं, जो सम्पन्न हैं, जो चतुर हैं, जो दुनियादार हैं, जो शहरी हैं। लेकिन यह बात जानकर आप प्रेमचन्द को गलत न समझें। पश्चिम में महायुद्ध के बाद जो एक 'प्रिमिटिविज़्म' की हवा बही है, जिसमें यह वकालत की जाती है कि सभ्यता की ओर अग्रसर होना ही गलती है, जो मेक्सिको के सभ्यता–हीन आदिमाध्युषित अंचलों में जा छिपने को ही त्राण का एक मात्र रास्ता समझते हैं। जो पीछे की ओर लौटना ही श्रेयस्कर मानते हैं;

उन प्रति-क्रिया-पंथियों की पंगत में प्रेमचन्द को नहीं बैठाया जा सकता। प्रेमचन्द मनुष्य की सद्वृत्तियों में विश्वास करते हैं। मनुष्य की दुर्वृत्तियों को वे अजेय तो समझते ही नहीं उनको भाव-रूप में स्वीकार करते हैं या नहीं इसीमें सन्देह है। वे मानते हैं कि जड़ोन्मुखी सभ्यता ने हमें जड़ता को ही प्रधान मानने की ओर प्रवृत्त किया है। हमने टीमटाम को भीड़-भम्भड़ को, दिखाव-बनाव को और दुनिया-दौलत को प्रधानता दी है। ये वस्तुएँ मनुष्य को न तो महान् बनाती हैं और न क्षुद्र, परन्तु ये मनुष्य के मन को दुर्बल कर देती हैं, आत्मा को सशंक बना देती हैं। आत्म-बल हरएक व्यक्ति में है, पर जड़ पूजा की अधिकता से वह अवरुद्ध हो जाता है। इसीलिये जो जितना त्याग कर सकता है अर्थात् जो जितना इस जड़िमा के बन्धन को तोड़ सकता है वह उतना ही महान् हो जाता है; आत्म-बल के बाधक कुश-कंटकों को उखाड़ फेंकने में वह उतना ही सफल होता है। जिनके पास ये बन्धन जितने ही कम होते हैं वे उतने ही जल्दी सत्य-परायण हो जाते हैं। 'रंगभूमि' का सूरदास शिक्षित और धनी विनय की अपेक्षा शीघ्र और स्थायी आत्म-बल का अधिकारी है और ठीक यही बात 'ग़बन' के कुंजड़े और किसान-स्त्री के सम्बन्ध में लागू होती है। स्त्रियों में भी वह शक्ति पुरुषों की अपेक्षा अधिक होती है क्योंकि वे पुरुषों के समान जड़ शिक्षा और जड़-सम्पद् के बन्धनों से कम बंधी रहती हैं।

प्रेमचन्द ने अतीत गौरव का पुराना राग नहीं गाया और न भविष्य की हैरत-अंगेज़ कल्पना ही की। वे ईमानदारी के साथ वर्तमान काल की अपनी वर्तमान अवस्था का विश्लेषण करते रहे। उन्होंने देखा कि बन्धन भीतर का है, बाहर का नहीं। एक बार अगर ये किसान, ये ग़रीब यह अनुभव कर सकें कि संसार की कोई भी शक्ति उनको नहीं दबा सकती तो वे निश्चय ही अजेय हो जायें। बाहरी बन्धन उन्हें दो प्रकार के दिखाई दिये। भूतकाल की संचित स्मृतियों का जाल और भविष्य की चिंता से बचने के लिए संग्रहीत ईंट-पत्थरों का स्तूप। एकका नाम है संस्कृति

और दूसरेका सम्पत्ति। एकका रथ वाहक है धर्म और दूसरेका राजनीति। प्रेमचन्द इन दोनों को मनुष्यता के विकास का बाधक मानते हैं। एक जगह अपने एक मौजी पात्र (मेहता) के मुंह से कहलवाते हैं—"मैं भूत की चिन्ता नहीं करता, भविष्य की परवाह नहीं करता। भविष्य की चिन्ता हमें कायर बना देती है, भूत का भार हमारी कमर तोड़ देता है। हममें जीवन की शक्ति इतनी कम है कि भूत और भविष्य में फैला देने से वह और भी क्षीण हो जाती है। हम व्यर्थ का भार अपने ऊपर लादकर रूढ़ियों और विश्वासों तथा इतिहासों के मलबे के नीचे दबे पड़े हैं। उठने का नाम नहीं लेते। वह सामर्थ्य ही नहीं रही। जो शक्ति, जो स्फूर्ति मानव-धर्म को पूरा करने में लगानी चाहिए थी, सहयोग में, भाई-चारे में, वह पुरानी अदावतों का बदला लेने और बाप-दादों का ऋण चुकाने की भेंट हो जाती है।" लेकिन ग़रीब किसान और अल्पज्ञ वधुएँ इन दोनों से अपेक्षाकृत बची रहती हैं। इसीलिये उन्हें अपनी बाधाओं को दूर करने में देर नहीं लगती। पर यह बात नहीं है कि अमीर और शिक्षित इन बन्धनों में पड़े ही रहते हैं। प्रेमचन्द के अमीर और शिक्षित पात्र जब बन्धनों को तोड़ निकलते हैं तो विश्व वरेण्य हो जाते हैं। इसीलिये प्रेमचन्द को 'प्रिमिटिविस्ट' नहीं कहा जा सकता। वे शिक्षा और सभ्यता के नहीं, उनकी जड़ोन्मुखता के विरोधी थे।

प्रेमचन्द के मत से प्रेम एक पावन वस्तु है। वह मानसिक गंदगी को दूर करता है, मिथ्याचार को हटा देता है और नई ज्योति से तामसिकता का ध्वंस करता है। यह बात उनकी किसी भी कहानी और किसी भी उपन्यास में देखी जा सकती है। यह प्रेम ही मनुष्य को सेवा और त्याग की ओर अग्रसर करता है। जहाँ सेवा और त्याग नहीं वहाँ प्रेम भी नहीं है। वहाँ वासना का प्राबल्य है। सच्चा प्रेम सेवा और त्याग में ही अभिव्यक्ति पाता है। प्रेमचन्द का पात्र जब प्रेम करने लगता है तो सेवा की ओर अग्रसर होता है अपना सर्वस्व परित्याग कर देता है। मालती ने प्रेम का अनुभव होते ही कहा था—"लेकिन तुम्हारा अमूल्य

प्रेम पाकर भी मैं वही बनी रहूँगी, ऐसा समझकर तुमने मेरे साथ अन्याय किया। मैं इस समय कितने गर्व का अनुभव कर रही हूँ, यह तुम नहीं समझ सकते। तुम्हारा प्रेम और विश्वास पाकर मेरे लिए कुछ भी शेष नहीं रह गया है। यह वरदान मेरे जीवन को सफल कर देने के लिए काफी है। यही मेरी पूर्णता है।"

प्रेमचन्द ने बहुत विस्तृत क्षेत्र का चित्रण किया है। कहते हैं उन्होंने निम्न श्रेणी और मध्यम श्रेणी के पुरुषों और स्त्रियों को ही सफलता-पूर्वक चित्रित किया है। उच्च श्रेणी के चरित्रों को चित्रित करने में वे उतने सफल नहीं रहे। मैं ठीक नहीं जानता, मैं उस श्रेणी से ठीक-ठीक परिचित नहीं हूँ। अगर आपमें से कोई उस श्रेणी के जानकार हों तो स्वयं इस बात की जाँच करें, परन्तु मैं इतना तो कह ही सकता हूँ कि उनके अधिकांश पात्र उसी श्रेणी के हैं जिनके चित्रण में उन्हें समर्थ बताया गया है और निम्न श्रेणी तथा मध्यम श्रेणी के पुरुषों और स्त्रियों से आपके यथार्थ परिचय का अर्थ है देश की वास्तविक समस्याओं की जानकारी। उन्हें जानकर ही आप अपनी ताक़त का अन्दाजा लगा सकते हैं—अपने गंभीर तत्त्व की मज़बूती या कमजोरी का पता लगा सकते हैं। फिर वही ऐसे हैं जो शताब्दियों तक केवल उपेक्षित और पद-दलित ही नहीं रहे, परिहास और अपमान के पात्र भी बने रहे। हज़ारों वर्ष के भारतीय साहित्य में इनकी आशाओं, आकांक्षाओं, सुख-दुखों और सूझ-बूझों की चर्चा नहीं के बराबर हुई है। ये ही हैं जो भारतवर्ष के मेरुदण्ड हैं, जिनके बनने बिगड़ने पर हमारा और इसीलिये सारे संसार का बनना बिगड़ना निर्भर है। अगर आप शहर के रहनेवाले रईस हैं तो आपको एक अत्यन्त आश्चर्योद्रेचक नवीन जगत् का परिचय मिलेगा और अगर मेरे समान गाँव के निवासी हैं तो विश्वास कीजिए, आपको अपने सहवासियों को देखने के लिए नई आँख मिलेगी। आप इन हाड़-मॉस की जीवित प्रतिमाओं से परिचय पाकर किसी प्रकार ठगे नहीं जायँगे।

लेकिन आप प्रेमचन्द में यदि किसी नये आदर्श की आशा करेंगे तो

आपको निराश होना पड़ेगा। वे देश की मौलिक समस्याओं के समाधान में अपने युग के राजनीतिक नेताओं से बुरी तरह प्रभावित थे। पहले महात्मा गांधी के आदर्शों को और बाद में समाजवाद के सिद्धान्तों को उन्होंने राष्ट्र की बुनियादी समस्याओं के समाधान का उपाय बताया, परन्तु आप शायद इन आदर्शों के लिए ऋणी होने को, मेरे ही समान, दोष हेतु नहीं मानेंगे और प्रेमचन्द की वास्तविक विशेषता का फिर भी सम्मान कर सकेंगे। जिस विचित्र युग में हम वास कर रहे हैं उसमें देश-विदेश के इतने आदर्शों से हमें टकराना पड़ता है कि एकाध नये आदर्शों के और मिल जाने से हमें कुतूहल नहीं होता और न मिलने से कोई पश्चात्ताप भी नहीं होता। हम जब आदर्शों को जीवन में व्यवहृत देखते हैं तो हमारी कुतूहल-वृत्ति ज़रूर आकृष्ट होती है। गांधी में हमने आदर्शों को इसी जीवन्त रूप में देखा है। और प्रेमचन्द के पात्रों में भी हम आदर्शों और कल्पनाओं को इसी जीवन्त रूप में पाते हैं। यह जीवन में ढालकर आदर्श को सरस और हृदयग्राही बना देना ही प्रेमचन्द की विशेषता है। यह जीवन ही उनकी कृतियों में सर्वत्र छलकता हुआ मिलता है। औषधियाँ घर-बाहर सर्वत्र हैं, कुछ को हम जानते हैं कुछ को नहीं जानते पर जानते हों या न जानते हों, हम गाय के कृतज्ञ ज़रूर होंगे जिसने इन ओषधों को अपने जीवन में ढालकर सरस दूध करके हमारे सामने रखा। हम आदर्शों को जीवन में छानकर सामने रखनेवाले प्रेमचन्द के भी निश्चय ही कृतज्ञ होंगे!

२

मेरे एक विनोदी मित्र ने एक दिन अचानक एक प्रश्न किया। कल्पना करो रवीन्द्रनाथ, शरत्‌चन्द्र और प्रेमचन्द तीनों ही परीक्षा हॉल में बैठे हैं। मैं प्रश्न-कर्ता हूँ; तुम परीक्षक हो। तीनों को मैं एक-एक कहानी लिखने को देता हूँ। कहानी ऐसी हो जो रुला दे। पर परीक्षक को रोना हो या हंसना उसे केवल बीस-बीस मिनट का समय दिया जायगा। अब बताओ किसकी कहानी पढ़कर तुम कितनी देर रो सकते

हो ? मैं मानता हूँ कि सवाल बेढंगा था और किसी भी समझदार आदमी को इसका उत्तर देने में हिचकना चाहिए था। पर मैंतो परीक्षक बना दिया गया था और परीक्षार्थी चाहे कोई भी हो मुझे निर्धारित समय के भीतर एक फैसला कर देना था। परीक्षाओं का यही सिलसिला है। इसे तोड़ने पर विश्वविद्यालय तक परीक्षकों पर जुर्माना करते हैं। मैंने भी अपना फैसला दे दिया। बोला—"रवीन्द्रनाथ की कहानी पढ़कर पाँच मिनट रोऊंगा, पन्द्रह मिनट सोचूँगा, शरत्चन्द्र की कहानी पढ़कर सत्रह मिनट रोऊँगा, तीन मिनट सोचूँगा और प्रेमचन्द की कहानी पढ़कर दस मिनट रोऊँगा, दस मिनट सोचूँगा।" यह जवाब भी सवाल के समान ही बेढंगा था। पर इस बात में मेरा अनुभव तो कुछ-कुछ था ही इसलिये इस बेढंगे सवाल-जवाब में भी एक सत्य ज़रूर रहा होगा। मैं स्वीकार करता हूँ कि वह सत्य मेरा अपना होगा। दूसरे मुझसे सहमत नहीं भी हो सकते हैं। आज जब मुझे अपना ही विचार प्रकट करना है तो मैं उस सत्य को कहने में संकोच नहीं करूँगा।

रवीन्द्रनाथ के पात्र खास-खास मनोवृत्तियों के प्रतीक होते हैं, वे हमारे मानसिक स्तर पर निरन्तर आघात हो करते रहते हैं, हम सोचते हैं, सोचते हैं और सोचते ही चले जाते हैं। जिस प्रकार वीणा के एक तार पर आघात करने से उसके अन्य सभी तार अनुरणित हो उठते हैं, उसी प्रकार ये पात्र हमारी मनो-वीणा को सम्पूर्ण झंकृत कर जाते हैं। उनमें हम नाना मनोवृत्तियों के घात-प्रतिघात जीवित रूप में देखते हैं, परन्तु शरत्चन्द्र के पात्र व्यक्ति होते हैं, वे हमारे अत्यन्त निकट के सगे-सम्बन्धी हो जाते हैं, उनके सुख-दुख में हम बुरी तरह उलझ जाते हैं। उनकी विपत्ति को हम व्यक्तिगत रूप में प्रगाढ़ भाव से अनुभव करते हैं। उनके दुख से हमारा हृदय विदीर्ण हो जाता है, उसकी सान्त्वना से हम आश्वस्त हो जाते हैं – यह बात हम करीब-करीब भूल जाते हैं कि उसीके समान और भी अभागे इस दुनिया में हैं और हो सकते हैं, परन्तु प्रेमचंद के पात्र न यह हैं, न वह। वे श्रेणियों का, वर्गों का प्रतिनिधित्व करते

हैं। उनके दुख में हम व्यक्तिगत दुख नहीं समझते, उनपर चलाए गए व्यंग्य-बाणों से उतने नहीं तिलमिला जाते, न तो उनके प्राप्त किये हुए सुखों का हम प्रगाढ़ आनन्द के साथ अनुभव करते हैं और न दुखों से एकान्त अधीर हो जाते हैं। हम हमेशा सोचने लगते हैं कि क्या हुआ इस वर्ग का एक आदमी अपने किए का फल पा गया तो? या अपने सौभाग्य से बेड़ापार कर गया तो? ऐसे तो बहुत हैं। 'प्रतिज्ञा' की पूर्णा यद्यपि विधवाश्रम के घरौंदे को मंदिर कल्पना करके शान्ति पा गई पर 'प्रतिज्ञा' का पाठक आश्वस्त नहीं हुआ। वह बराबर अनुभव करता रहा और पुस्तक समाप्तकर और भी व्याकुल भाव से अनुभव करने लगा कि अभी तो इस देश में ऐसी लाखों पूर्णाएँ पड़ी हुई हैं। उनका क्या होगा? कमलाप्रसाद सभा में विधवा-विवाह के विरुद्ध इतना बोलता है और घर में अपनी ही आश्रिता विधवा का सर्वनाश करना चाहता है। घटनाचक्र उसे सुधार देता है, परन्तु पाठक सोचता ही रह जाता है कि कमलाप्रसाद की समाज में कमी तो नहीं है। बात यही है कि 'पूर्णा' और 'कमलाप्रसाद' कोई व्यक्ति नहीं बल्कि अपनी समूची श्रेणी के प्रतिनिधि हैं। उनके व्यक्तिगत सुधार या सान्त्वना से भी मामला शान्त नहीं हो जाता, वह और भी उत्कट रूप में हमारे सामने खड़ा हो जाता है।

जब मैं कहता हूँ कि प्रेमचन्द के पात्र वर्गों या श्रेणियों के प्रतीक हैं तो मैं उसका जो अर्थ समझता हूँ उसे ज़रा और खोलकर समझाने की ज़रूरत है। हमारा मतलब उस वर्ग चेतना या 'क्लास कॉन्शसनेस' से नहीं है जिसकी चर्चा आज हर गली-कूचे में आपको सुनने को मिल जायगी, जो साधारणतः आर्थिक कारणों से संभव हुई है और जिसके दो मोटे-मोटे विभाग शोषक और शोषित वर्ग हैं। स्वयं प्रेमचन्द्रजी के दिमाग में इन वर्गों का संघर्ष अन्तिम काल में निश्चित और परिपक्व आकार ग्रहण करने लगा था। पर यही बात उनकी आरम्भिक रचनाओं में नहीं है, यद्यपि इसके बीज उसमें ढूंढ़ने पर निश्चय ही मिल जायँगे।

प्रेमचन्द के दृष्टि-कोण को समझने के लिए आप सभ्यता के विकास को समझिए—केवल आर्थिक विकास को नहीं, उसके सार्वत्रिक विकास को। आप अगर इसका वर्गीकरण करके देखेंगे तो आपको कोई सन्देह नहीं रहेगा कि मानव-समाज में नाना प्रकार के समूहों का विकास होते-होते हम इस अवस्था में आ पड़े हैं। एक मामूली-सा उदाहरण लीजिए। एक ईमानदार और दयापरायण धनी आदमी है। वह अपनी सारी सम्पत्ति ले जाकर एक आश्रम की स्थापना करता है। मान लीजिए वह ब्रह्मचर्याश्रम है और उसमें पढ़ाने-लिखाने से लेकर दण्ड-मुद्गर तक की व्यवस्था है। वह उदार संस्थापक अपने लिए जैसा बंगला बनाता है, वैसा ही अन्यान्य अध्यापकों के लिए भी बनवाता है, पर वही आदमी चपरासियों के लिए एक मामूली-सी झोपड़ी बना देता है। यह वैषम्य ज़रूर है, पर यह वैषम्य किसी को खटकता नहीं, उस उदार संस्थापक को भी नहीं, बाहरी दर्शक को भी नहीं और चपरासी को भी नहीं। इसका कारण यह है कि हमारे रक्त में यह संस्कार घुल-मिल गया है कि चपरासियों का एक वर्ग है और उनके लिए मामूली झोपड़ियाँ पर्याप्त हैं और अध्यापकों तथा शिक्षित लोगों का एक दूसरा वर्ग है जिनको इन झोपड़ियों से अधिक उत्तम बंगलों की ज़रूरत है। इसमें न्याय-अन्याय की बात मैं नहीं कह रहा हूं। मैं केवल इतना ही कह रहा हूँ कि हज़ारों वर्ष से जो समूह रूप में हमारा विकास होता है उसके कारण हमारे व्यक्तित्व के साथ ही साथ इस प्रकार की वर्ग-चेतना भी अनजान में विकसित हो रही है। पूर्ववर्ती उदाहरण बहुत सहज है, पर मनुष्य के भीतर यह चेतना बहुत जटिल हो गई है। यह वर्ग-चेतना नाना रूप में विकसित होती है। एक ही आदमी के भीतर सैकड़ों प्रकार की वर्ग-चेतनाएँ काम करती हैं, वह हिन्दू है, वह शिक्षित है, वह नास्तिक है, वह कॉंग्रेसमैन है, वह शोषित है, वह छायावादी है और न जाने और भी कितना कुछ है। ये चेतनाएँ सदा सामंजस्यमय नहीं होतीं। इनके अन्दर परस्पर-विरोध भी होता है और इस विरोध से ही मनुष्य का

जीवन विचित्र हो उठता है। प्रेमचन्द ने इन वर्गों को ही चित्रित किया है और इसीलिये वे जड़ सभ्यता की मर्जरी में इतने सिद्ध-हस्त हो सके हैं। उन्होंने उसकी नाड़ी पहचानी है। हम उनके पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व में सभ्यता का वास्तविक रूप प्रत्यक्ष देखते हैं, वर्ग-चेतनाओं के परस्पर टकराने में जो एक अभूतपूर्व ज्योतिः-स्फुलिंग निर्गत होता है, वही प्रेमचन्द की समस्त कारीगरी की जान है। इन्हीं चिनगारियों से वे दुर्वृत्तियों को जलाने में समर्थ होते हैं।

अन्तिम काल में, प्रेमचन्द ने नाना वर्ग-संघर्षों में से आर्थिक संघर्ष को ही प्रधान मान लिया; ऐसा जान पड़ता है। यदि आप आधुनिक सभ्यता के वर्तमान रूप का विचार करें तो आप भी शायद आर्थिक संघर्ष की प्रधानता स्वीकार करेंगे। योरप के 'इन्डस्ट्रियल रिवोल्यूशन' के बाद का इतिहास शासक और शासितों के संघर्ष का इतिहास है, आज की दुनिया में वह अपने कुत्सिततम रूप में प्रकट हुआ है। प्रेमचन्द को इस संघर्ष में दुनिया की अधिकांश बुराई निहित दिखी तो उसमें उनका दोष नहीं। यह लक्ष्य करने की बात है कि उनका यह विचार बुद्धि से नोच-खरोंच कर नहीं निकाला गया था, वह उनके जीवन का अनुभव था। गांव के किसानों को उनसे अधिक कोई नहीं जानता था, उन्होंने तड़पते हुए हृदय के साथ देखा था कि—गाँव में—"ऐसा एक आदमी भी नहीं जिसकी रोनी सूरत नहीं, मानों उनके प्राणों की जगह वेदना ही बैठी उन्हें कठपुतली की तरह नचा रही हो, चलते-फिरते थे, काम करते थे, पिसते थे, घुटते थे, इसलिये कि पिसना और घुटना उनकी तक़दीर में लिखा था। जीवन में न कोई आशा है न कोई उमंग जैसे उनके जीवन के सोते सूख गये हों और सारी हरियाली मुरझा गई हो। जेठ के दिन हैं, अभी तक खलिहानों में अनाज मौजूद है, मगर किसी के चेहरे पर खुशी नहीं है। बहुत कुछ तो खलिहानों में ही तुलाकर महाजनों और कारिन्दों की भेंट हो चुका है और जो कुछ बचा है वह भी दूसरों का है। भविष्य अन्धकार की भाँति उनके सामने है। उसमें उन्हें कोई रास्ता नहीं

सूझता। उनकी सारी चेतना शिथिल हो गयी है। द्वार पर मनों कूड़ा जमा है, दुर्गंध उड़ रही है, मगर उनकी नाक में न गंध है, न आँखों में ज्योति। सरे शाम से द्वार पर गीदड़ रोने लगते हैं मगर किसी को भय नहीं। सामने जो कुछ मोटा-झोटा आ जाता है वह खा लेते हैं, उसी तरह जैसे इंजन कोयला खा लेता है। उनके बैल चूनी-चोकर के बिना नाँद में मुंह नहीं डालते मगर केवल पेट में डालने को कुछ चाहिए, स्वाद से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं। उनकी रसना मर चुकी है, उनके जीवन में स्वाद का लोप हो गया है। उनसे धेले-धेले के लिए बेईमानी करवा लो, मुट्ठी भर अनाज के लिए लाठियाँ चलवा लो। पतन की वह इन्तिहा जब आदमी शर्म और इज़्ज़त को भी भूल जाता है।"

यह किसानों की सच्ची कहानी है, बुद्धिमूलक नहीं, अनुभवमूलक। स्पष्ट ही इस भयंकर दुर्दशा का कारण आर्थिक विषमता है और जैसाकि ऊपर के उद्धरण में उन्होंने निर्देश किया है, वह नैतिक पतन के लिए भी जवाबदेह है। आप विचारकर देखें तो किसानों के नैतिक अधःपतन का अर्थ समूची जाति का अधःपतन है। देश के नब्बे प्रतिशत तो वे ही हैं। प्रेमचन्द का कोमल हृदय इससे तड़प उठा था। ऊपर का वर्णन उनके रोएँ-रोएँ को छेद कर निकला है। उसमें दर्द है, सहानुभूति है, वेदना है। वह उनका हृदय मानों रोकर मालती के शब्दों में कह रहा था—
"संसार में अन्याय की, आतंक की, भय की दुहाई मची हुई है। अन्ध-विश्वास का, धर्म का, स्वार्थ का प्रकोप छाया हुआ है। तुमने वह आर्त पुकार सुनी है। तुम भी न सुनोगे तो सुननेवाले कहाँ के आवेंगे और असत्य प्राणियों की भाँति तुम भी उसकी ओर से अपने कान बन्द नहीं कर सकते।"

पर वर्ग-चेतनाओं में आर्थिक वर्गों के संघर्ष की चेतना को उन्होंने प्रधान माना तब भी, नहीं माना तब भी, वे जीवन की सफलता, सेवा और त्याग में ही मानते रहे। मुक्ति के इसी एक रास्ते का उपदेश उन्होंने अन्त तक दिया। वर्ग-रूप में व्यक्ति को देखना प्रेमचन्द की विशेष दृष्टि

थी और संघर्ष में सहयोग के द्वारा ही शान्ति--प्राप्ति उनकी चरम साधना थी। उन्होंने संघर्ष को अस्वीकार नहीं किया पर यह सदा मानते रहे कि संघर्ष का अन्त संघर्ष से नहीं, सेवा और त्याग से, एका और सहयोग से हो सकता है। और भी बहुत-सी पुरानी बातों ने नया अवतार प्रेमचन्द के ग्रंथों में लिया है। धर्म-ग्रंथों में हमने बहुत से उपदेश पढ़े हैं, पर प्रेमचन्द जब उनको प्रत्यक्ष करके खड़ा कर देते हैं तो हम आश्चर्य से उनकी ओर देखते रह जाते हैं, मानों उन्हें कभी देखा सुना ही न हो। वासना का अन्त वासना से नहीं, द्वेष का अन्त द्वेष से नहीं, घृणा का अन्त घृणा से नहीं, लालसा का अन्त लालसा से नहीं बल्कि प्रेम से होता है, यह बात प्रेमचन्द ने बहुत प्रकार से बताई है। नये जीवन-रस में स्नान करने पर उनकी प्राचीनता की धूल धुल गई है। उनके शब्द जो उन्होंने मेहता के मुँह से कहाए हैं, सीधे हृदय पर चोट करते हैं—"जिसे तुम प्रेम कहती हो वह धोखा है। उद्दीप्त लालसा का विकृत रूप है, उसी तरह जैसे संन्यास भीख माँगने का संस्कृत रूप है। वह प्रेम अगर वैवाहिक जीवन में कम है तो मुक्त-विलास में बिलकुल नहीं है। सच्चा आनन्द, सच्ची शान्ति केवल सेवा-व्रत में है। वही अधिकार का स्रोत है, वही शक्ति का उद्गम है। सेवा ही वह सीमेंट है जो दम्पति को जीवन-पर्यंत स्नेह और साहचर्य में जोड़े रख सकता है। जिस पर बड़े-बड़े आघातों का कोई असर नहीं होता। जहाँ पर सेवा का अभाव है वहीं विवाह-विच्छेद है, परित्याग है, अविश्वास है।" क्या मेरे ही साथ आप नहीं मानते कि इस द्वन्द्व-जर्जर युग के लिए इससे बढ़कर अमृत-सन्देश और कुछ नहीं ?

४

मगर इन सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि प्रेमचन्द के अध्ययन से आप उत्तरी भारतवर्ष को जान सकते हैं। आप उसके निम्न और मध्य श्रेणी—(मैं श्रेणी की बात कर रहा हूँ व्यक्ति की नहीं) का जैसा सुन्दर और विश्वसनीय परिचय आपको इस ग्रन्थकार के जरिए मिलेगा वैसा

और किसी के जरिए नहीं मिलेगा—आप बड़े-बड़े आन्दोलनों को समझ सकेंगे, कैसे वे रंग बाँधते हैं, कैसे ज़ोर पकड़ते हैं, कैसे ढीले पड़ते हैं और कैसे असफल हो जाते हैं। आप आन्दोलन करनेवालों को समझ सकते हैं, किस लाचारी की हालत में वे आन्दोलन करते हैं, कैसे मरिया होकर लड़ते हैं, किस प्रकार फिसलते हैं, किस प्रकार अपार अन्धकार में भटक-भटक कर मर जाते हैं। आप आन्दोलन करानेवालों को समझ सकते हैं, उनमें कुछ स्वार्थी होते हैं, कुछ व्यक्तिगत मनमुटाव का फायदा उठाने वाले होते हैं, कुछ प्रेमी होते हैं, कुछ किसी अदृश्य व्यक्ति के इशारे पर नाचनेवाले होते हैं। आप आन्दोलन को दबानेवालों को भी समझ सकते हैं, उनकी गुटबन्दियों को, उनके नीचाशय गुणों को, उनकी अधोमुखी नैतिकता को, उनकी मेरु-दंड-हीन न्याय-परायणता को आप प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं। आप उत्तर-भारत के अन्तःपुरों में घुसकर देखेंगे कि इस स्थान की हाव-भाव-हेला ने, ईर्ष्या-असूया ने, प्रेम-प्रीति ने किस प्रकार समाज के बाह्य हलचलों में विशेषता ला दी है। आप हुक्कामों के दिलों में बैठ कर शासन-यन्त्र के रहस्य को समझ सकते हैं। दफ़्तरों की आलमारियाँ खोल कर अपनी पराधीनता का लेखा-जोखा समझ सकते हैं। वेश्यालयों के भीतर जाकर समाज की सड़ी हुई आचारनिष्ठा का पता पा सकते हैं—आप सारे समाज को आयने में की भाँति प्रत्यक्ष देख सकते हैं। आप देखेंगे कि छोटी-छोटी घटनाएँ कितने बड़े परिणाम की वाहिका हैं। सारी जाति को नीचे से ऊपर तक, उसके सब गुण-दोषों के साथ देखने के लिये आपके पास दूसरा साधन नहीं। चुभते हुए व्यंग्यबाण आपको सदा सचेत किए रहेंगे, अर्थान्तरन्यासात्मक उक्तियाँ आपको सहलाती चलेंगी, फड़कती हुई भाषा आपको आगे धकेलती जायगी। वक्तव्य विषय का वर्गीकरण आपको उल्लसित करता रहेगा। आप समूचे समाज को बड़ी आसानी से, फिर भी बड़ी गहराई तक, देख सकेंगे, विचार कर सकेंगे और समझ सकेंगे।

साधारण जनता के अन्तस्तल में पहुँच कर उसे दुनिया के सामने

विवृत करने में प्रेमचन्द कमाल करते हैं। वे ग़रीबों से इस प्रकार घुल-मिल गए थे कि पैसेवालों के प्रति एक गहरी उपेक्षा उनके वैयक्तिक जीवन में आ गई थी। एक व्यक्तिगत पत्र में वे लिखते हैं—"जो व्यक्ति धन-सम्पदा में विभोर और मग्न हो, उसके महान् पुरुष होने की मैं कल्पना नहीं कर सकता। जैसे ही मैं किसी आदमी को धनी पाता हूँ, वैसे ही मुझपर उसकी कला और बुद्धिमत्ता की बातों का प्रभाव काफ़ूर हो जाता है। मुझे जान पड़ता है कि इस शख़्स ने मौजूदा सामाजिक व्यवस्था को—उस सामाजिक व्यवस्था को, जो अमीरों द्वारा ग़रीबों के दोहन पर अवलम्बित है—स्वीकार कर लिया है। इस प्रकार किसी भी बड़े आदमी का नाम जो लक्ष्मी का दयापात्र भी हो, मुझे आकर्षित नहीं करता। बहुत मुमकिन है कि मेरे मन के इन भावों का कारण जीवन में मेरी निजी असफलता ही हो। बैंक में अपने नाम में मोटी रकम जमा देख कर शायद मैं भी वैसा ही होता, जैसे दूसरे हैं—मैं भी प्रलोभन का सामना न कर सकता; लेकिन मुझे प्रसन्नता है कि स्वभाव और किस्मत ने मेरी मदद की है और मेरा भाग्य दरिद्रों के साथ सम्बद्ध है। इससे मुझे आध्यात्मिक सान्त्वना मिलती है।" अर्थात् दरिद्रता की वकालत करना, उसे लोक-चक्षु-गोचर करना प्रेमचन्द का मनोरंजन या बुद्धि-विलास नहीं था। वह उनके जीवन का चरम लक्ष्य था। उसमें वे आध्यात्मिक सन्तोष पाते थे। वे उनको अलग रखकर दूर से आर्थिक तत्व-चिंतक की भाँति नहीं देखते थे, अपने को उनमें घुला-मिला कर, मानों अपना ही कलेजा चीरकर रख देते थे। कहना व्यर्थ है कि इस आदमी को आप इस कार्य के लिए विश्वासपूर्वक साथी बना सकते हैं। वह आपको जाति और समाज की बुनियादी समस्याओं को ठीक-ठीक समझा सकेगा। आपके चित्त में इन मूक जनों को जीवित मनुष्य के रूप में उपस्थित करेगा। ईंट-पत्थर की मूर्ति के रूप में नहीं। इनको जानकर आप समूचे देश को जान सकेंगे और अपने आपको भी जान सकेंगे।

मेरी दृष्टि में इसका बड़ा मूल्य है। आजके पारस्परिक अविश्वास,

ईर्ष्या, द्वेष और अहम् के युग में बड़ी सख़्त ज़रूरत है कि आप मुझे और मैं आपको ठीक-ठीक समझूँ। इसे न समझने के कारण ही दुनिया में अन्याय है, आतंक है, वीभत्सता है। हर एक व्यक्ति को अपने इर्द-गिर्द के संस्कारों से रूप मिलता है, उसके विकास में एक इतिहास निहित रहता है। यही व्यक्ति समाज की रचना करते हैं। इसलिये समूचे समाज को समझने के लिए उनके प्रतिनिधिमूलक व्यक्तियों की जानकारी आवश्यक है। प्रेमचन्द ने आपको वही जानकारी की आँख दी है।

परन्तु मैं समझता हूँ आप किसी ग्रन्थकार को केवल उसके वक्तव्य-वस्तु के जाँचने पर ही अधिक ज़ोर न देंगे। यह ज़रूर है कि उसका वक्तव्य ही प्रधान वस्तु है। पर साथ ही उसके देश—काल का भी ध्यान रखना चाहिए। यह भी ख्याल करना चाहिए कि उक्त ग्रन्थकार ने किस काल में किस समाज को वह वस्तु दी है। कहना फिजूल है कि अवस्था-विशेष में वस्तु-विशेष की कीमत बढ़ जाती है। वास्तव में तुलसीदास और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के बाद प्रेमचन्द के समान सरल और जोरदार हिंदी किसी ने लिखी ही नहीं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिंदी को रूप ही भर दिया था। प्रेमचन्द के आविर्भाव के पहले हिंदी में कथा—साहित्य के नाम पर कुछ तिलस्माती कहानियाँ और कुछ बंगला से अनूदित या उन्हींकी नकल पर की हुई औपन्यासिक रचनाएं भर थीं और जैसा कि उन्होंने स्वयं लिखा है, "हमारे साहित्यकार कल्पना की एक सीढ़ी खड़ी कर उसमें मनमाने तिलस्म बाँधा करते थे। कहीं किसी अजायब की दास्तान थी और कहीं चंद्रकांता सन्तति की। इन आख्यानों का उद्देश्य केवल मनोरंजन था और हमारे अद्भुत–रस–प्रेम की तृप्ति। साहित्य का जीवन से कोई सम्बन्ध है, यह कल्पनातीत था। कहानी कहानी है; जीवन, जीवन। दोनों परस्पर विरोधी वस्तुएँ समझी जाती थीं।" इसी समय प्रेमचन्द का आविर्भाव हुआ। भाषा में बंगला का अनुकरण केवल शब्दों और मुहावरों में नहीं, नामों और विचारों तक में किया जा

रहा था। प्रेमचन्द ने पहले पहल इन काल्पनिक घरौंदों को ठोकर मार कर तोड़ दिया। उन्होंने हिन्दी को हर प्रकार से हिन्दी किया। उनके पात्र, उनके विचार, उनका दुख-सुख सब वास्तविक था, उधार लिया हुआ और नकली नहीं। उन्होंने उर्दू-हिन्दी के भेद को कम कर दिया और भाषा में नई प्राण-शक्ति फूंक दी।

लेकिन मेरे इस कथन का अर्थ यह नहीं कि प्रेमचन्द को हिन्दी भाषा की चहारदीवारी के फ्रेम में बैठा कर ही उनके महत्व को समझें। मैं केवल इतना ही कहता हूँ कि उनको ऐसा देख सकने पर आप उन्हें और भी उज्ज्वल रूप में देख सकेंगे। साथ ही इस बात को मैं इसलिए भी कह रहा हूँ कि आपको निश्चय दिला दूं कि प्रेमचन्द का साहित्य अगर आप उत्तर भारत की जनता के परिचय पाने की गरज से पढ़ें तो आपको उसमें कहीं भी अनुकरण और उधार की प्रवृत्ति नहीं मिलेगी।

आज के शिक्षित और विद्वान् अपनी मातृभाषा को भी अंग्रेजी साँचे में ढालकर बोलते हैं; वे सोचते अंग्रेजी में और लिखते हिन्दी में हैं। प्रेमचन्द में यह दोष नहीं है। वे ऐसी ही भाषा अपने पात्रों के मुँह से कहवाते हैं जो उनकी है। विचार भी उन्हीं के हैं, व्याख्या ग्रन्थकार की होती है।

—['वीणा'-नवम्बर '३९]

५

'प्रसाद' जी की 'कामायनी'

'कामायनी' प्रसादजी का सबसे बड़ा काव्य है। इसकी कथा वैदिक साहित्य से ली गई है। आरम्भ में ही कवि ने इस कथा का संक्षिप्त परिचय दिया है, जिसमें अपने गम्भीर अध्ययन के बल पर उन्होंने सम्पूर्ण वैदिक साहित्य से उन समस्त बिखरी हुई सामग्रियों का संकलन किया है, जो कथा के प्रधान पात्र मनु, श्रद्धा (कामायनी) और इड़ाके सम्पूर्ण जीवन को विविक्त करने में समर्थ हो सकी हैं। कथा इस प्रकार है—

"जल-प्लावन भारतीय इतिहास में एक प्राचीन घटना है, जिसने मनु को देवों से विलक्षण, मानवों की एक भिन्न संस्कृति प्रतिष्ठित करने का अवसर दिया। देवगण के उच्छृङ्खल स्वभाव, निर्बाध आत्म-तुष्टि में अन्तिम अध्याय लगा और मानवीय भाव अर्थात् श्रद्धा और मनन का समन्वय होकर प्राणी को एक नये युग की सूचना मिली। इस मन्वन्तर के प्रवर्तक मनु हुए। भागवत में इन्हीं वैवस्वत मनु और श्रद्धा से मानवीय सृष्टि का प्रारम्भ माना गया है। श्रद्धा के साथ मनु का मिलन होने के बाद उसी निर्जन प्रदेश में उजड़ी हुई सृष्टि को फिरसे आरम्भ करने का प्रारम्भ हुआ। किन्तु असुर पुरोहित के मिल जाने से इन्होंने पशु बलि की।

"इस यज्ञ के बाद मनु में जो पूर्व परिचित देव प्रवृत्ति जाग पड़ी, उसने इड़ा के सम्पर्क में आने पर उन्हें श्रद्धा के अतिरिक्त एक दूसरी ओर प्रेरित किया। इड़ा के सम्बन्ध में शतपथ में कहा गया है कि उसकी उत्पत्ति या पुष्टि पाक-यज्ञ से हुई और उस पूर्ण योषिता को देखकर मनु ने पूछा—'तुम कौन हो ?' इड़ा ने कहा—'तुम्हारी दुहिता हूँ।' मनु ने पूछा—'मेरी दुहिता कैसे ?' उसने कहा—'तुम्हारे हवियों से ही मेरा

पोषण हुआ है।' इड़ा के लिए मनु को अत्यधिक आकर्षण हुआ और श्रद्धा से वे कुछ खिंचे। अनुमान किया जा सकता है कि बुद्धि का विकास राज्य-स्थापना इत्यादि इड़ा के प्रभाव से ही मनु ने किया। फिर तो इड़ा पर भी अधिकार करने की चेष्टा के कारण मनु को देवगण का कोप भाजन होना पड़ा—'तं रुद्रोऽभ्यावत्य विव्याध।'

"इड़ा देवताओं की स्वसा (बहन) थी। मनुष्यों को चेतना प्रदान करनेवाली थी। यह इड़ा का बुद्धिवाद श्रद्धा और मनु के बीच व्यवधान बनाने में सहायक होता है। फिर बुद्धिवाद के विकास में, अधिक सुख की खोज में, दुःख मिलना स्वाभाविक है। यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का भी अद्भुत मिश्रण हो गया है। इसीलिये मनु, श्रद्धा, इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो" कवि को "कोई आपत्ति नहीं है," क्योंकि "मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी सरलता से लग जाता है।"

"इन्हीं सबके आधार पर 'कामायनी' की कथा की सृष्टि हुई है। हाँ, 'कामायनी' की कथा-श्रृंखला मिलाने के लिए कहीं-कहीं थोड़ी-बहुत कल्पना को भी काम में ले आने का अधिकार" कवि ने छोड़ा नहीं है। कवि की यह कल्पना ही 'कामायनी' का सर्वस्व है; उसीके बल पर 'कामायनी' हिन्दी-साहित्य की एक अनमोल रचना हो सकी है।

२

कामायनी की कथा शुरू होती है। हिमालय के उत्तुंग शिखर पर शिला की शीतल छाया में बैठा हुआ एक पुरुष भीगे नयनों से प्रलय का प्रवाह देख रहा था, नीचे अपार जल लहरा रहा था, ऊपर सघन हिम ठिठुरा हुआ था; एक ही तत्त्व के दो भिन्न-भिन्न रूपों का यह दर्शन एक अजीब रहस्य की सूचना दे रहा था, रहस्य—जिसे जड़ भी कह सकते हो और चेतन भी!—

"हिम गिरि के उत्तुंग शिखर पर, बैठ शिला की शीतल छाँह;
एक पुरुष, भीगे नयनों से, देख रहा था प्रलय-प्रवाह।
नीचे जल था, ऊपर हिम था, एक तरल था, एक सघन;
एक तत्त्व की ही प्रधानता कहो, उसे जड़ या चेतन।"

पुरुष का शरीर गठा हुआ था, दृढ़ मांस-पेशियों में अपार वीर्य ऊर्जस्वित हो रहा था, स्फीत शिराएँ स्वस्थ रक्त के द्रुत-संचार को वहन किए थीं; किन्तु उसका चेहरा मुरझाया हुआ था। इस चिन्ताकातर मुख में पौरुष ओत-प्रोत था। उसके हृदय देश में उपेक्षामय यौवन का स्रोत बह रहा था, (वह मनु था):—

"अवयव की दृढ़ मास-पेशियां, ऊर्जस्वित था वीर्य्य अपार;
स्फीत शिरायें, स्वस्थ रक्त का होता था जिनमें संचार।
चिन्ताकातर वदन हो रहा पौरुष जिसमें ओतप्रोत;
उधर उपेक्षामय यौवन का बहता भीतर मधुमय सोत।"

इसप्रकार कामायनी का कवि पाठक की मानसिक वृत्तियों को आदि युग की ओर एकाग्र करता है, जबकि जीव-सृष्टि पहली बार प्रलय का दृश्य देख रही थी, जबकि विशाल जड़-शक्ति भ्रू-कुंचित करके समस्त विश्व को आतंकित कर रही थी, जबकि पहली बार मनुष्य के पूर्वज के मन में चिन्ता का उदय हुआ था। इसके पहले कोई संचय करना नहीं जानता था, कोई 'अभाव' नामक वस्तु को भी नहीं पहचानता था। प्रथम बार मनुष्य ने अभाव की इस चपल बालिका को देखा। वह चिन्ता की पहली रेखा थी:—

"ओ चिन्ता की पहली रेखा, अरी विश्व-वन की व्याली;
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण, प्रथम कम्प-सी मतवाली!
हे अभाव की चपल बालिके, री ललाट की खल लेखा;
हरी-भरी-सी दौड़-धूप, ओ जल-माया की चल-रेखा!"

मनु चिन्तित होकर बीती हुई घटनाओं को एक-एक करके सोचने लगे। एक बार उन्हें याद आया भयंकर तूफान, आँधी, बवंडर; फिर

याद आया उन्मत्त विलास, देव-सृष्टि की सुख-विभावरी, सुरभित अंचल से चले हुए जीवन के मधुमय निःश्वास; फिर याद आए, वह नित्य विलासी चिर किशोर वय, वे कुसुमित कुंजों के प्रेमालिंगन, कंकणों के क्वणित, नूपुरों के रणित, छाती पर हिलते हुए लोलहार, वे सुरा-सुरभिमय अरुण वदन, अनुराग भरे, नयन कल कपोल, जिनपर कल्पवृक्ष का पीतपराग बिछला पड़ता था। मनु का मन तो उस सुखमय जीवन की स्मृतियों से उलझा हुआ था; पर सामने:—

"पवन पी रहा था शब्दों को निर्जनता की उखड़ी सांस,
टकराती थी, दीन प्रतिध्वनि बनी हिम-शिलाओं के पास।
धू-धू करता नाच रहा था अनस्तित्व का ताण्डव नृत्य;
आकर्षण-विहीन विद्युत्कण बने भारवाही थे भृत्य।
वाष्प बना उजड़ा जाता था वह भीषण जल-संघात,
सौर चक्र में आवर्तन था या प्रलय-निशा का होता प्रात।"

यह काव्य-कथा की भूमिका है, उसके योग्य ही विराट् और मर्मभिद् !

यह भयंकर अवस्था बहुत दिनों तक नहीं रही। कालरात्रि पराजित हुई, प्रकृति का त्रस्त और विवर्ण मुख सुनहरी उषा के प्रकाश में मुसकुरा उठा, तुषार-धवल शिखरों पर पड़ी हुई सुनहरी रोशनी ऐसी दीख रही थी, मानो श्वेत कमल पर मधुमय पिंगल पराग क्रीड़ा कर रहा हो; मनु का मन नई आशा और नये उमंग से भर उठा। उन्होंने यज्ञ करना निश्चित किया; लेकिन मन शान्त नहीं हुआ, विजन रात्रि एक अपूर्व उत्सुकता से उन्हें विकल करने लगी। न-जाने वह किस दिगन्त रेखा की सिसकी-सी साँस संचित करके समीर के मिस हाँफ रही थी और न-जाने वह किस के पास अभिसरण कर रही थी। मनु का मन चंचल हो उठा। इसी समय उन्हें मधुकरी के मधुर गुंजार के समान एक मधुर स्वर सुनाई दिया:—

"कौन तुम ? संसृति-जलनिधि तीर तरंगों से फेंकी मणि एक,
कर रहे निर्जन का चुपचाप प्रभा की धारा से अभिषेक ?"

मनु ने पीछे मुड़कर देखा :—

"मसृण गान्धार देश के नील-रोम वाले मेषों के चर्म;
ढँक रहे थे उसका वपु कान्त, बन रहा था वह कोमल वर्म।
नील परिधान बीच सुकुमार, खुल रहा मृदुल अधखुला अङ्ग;
खिला हो ज्यों बिजली का फूल, मेघ-वन बीच गुलाबी रङ्ग।
आह ! वह मुख ! पश्चिम के व्योम, बीच जब घिरते हों घनश्याम;
अरुण रवि मण्डल उनको भेद दिखाई देता हो छविधाम।
या कि, नव इन्द्र नील लघु शृङ्ग, फोड़कर धधक रही हो कान्त;
एक लघु ज्वालामुखी अचेत, माधवी रजनी में अश्रान्त।"

यह श्रद्धा थी। इसीका दूसरा नाम कामायनी था। दोनों दोनोंकी ओर आकृष्ट हुए। इस प्रकार दो हृदय एकत्र हुए। परिचय कुछ गाढ़ हुआ था, उसपर वासना का रंग चढ़ा। नवागत ने आत्म-समर्पण किया। नारी ने पुरुष का नर्मंमय उपचार पाया और सलज्ज सुकुमारता के भार से दब गई :—

"गिर रहीं पलकें, झुकी थी नासिका की नोक,
भ्रू लता थी कान तक चढ़ती रही बेरोक।
स्पर्श करने लगी लज्जा ललित कर्ण कपोल,
खिला पुलक कदम्ब-सा था भरा गद्गद बोल।
किन्तु बोली "क्या समर्पण आज का हे देव !
बनेगा चिर-बन्ध नारी हृदय हेतु सदैव।
आह मैं दुर्बल, कहो क्या ले सकूँगी दान।
वह, जिसे उपयोग करने में विकल हों प्रान ?"

अन्तमें श्रद्धा गर्भवती हुई। उसने भावी सन्तान के लिए कुटिया बनाई। उच्छृङ्खल पुरुष को इस बात में अपनी अपेक्षा मालूम हुई, वह

उसे छोड़कर चला गया। हाय रे जीवन-निशीथ के अन्धकार! तू अभिलाषा के नव-ज्वलन-धूम के समान दुर्निवार भाव से घूम रहा है, जिसमें अपूर्ण लालसाएँ चिनगारी-सी पुकार उठती हैं। यौवनरूपी मधुवन की यह काली यमुना सब दिगन्त चूमकर बह रही है, जिसमें मन-रूपी बच्चे की नौकाएँ अविश्रान्त भाव से दौड़ लगा रही हैं। इस चिर-प्रवासमय श्यामल पथ में प्राणों की पुकार नील प्रतिध्वनि बनकर अपार आकाश में छाई हुई है :—

"जीवन-निशीथ के अन्धकार !

तू घूम रहा अभिलाषा के नव ज्वलन-धूम-सा दुर्निवार
जिसमें अपूर्ण लालसा, कसक, चिनगारी-सी उठती पुकार
यौवन मधुवन की-कालिन्दी बह रही चूम कर सब दिगन्त
मन-शिशु की क्रीड़ा-नौकाएँ बस दौड़ लगाती हैं अनन्त
इस चिर-प्रवास श्यामल पथमें छाई पिक प्राणों की पुकार
बन नील प्रतिध्वनि नभ अपार।"

मनु के सामने सरस्वती मधुर नाद करती निर्लिप्तभाव रही थी, मानो समस्त विश्व के विषाद की उपेक्षा करके वह प्रसन्नता की धाराका मधुर गान गा रही थी। इसी समय उन्होंने एक छवि देखी :—

"बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल !

वह विश्व मुकुट-सा उज्ज्वलतम शशि-खंड सदृश था स्पष्ट भाल,
दो पद्म पलाश चषक-से दृग देते अनुराग-विराग ढाल !
गुंजरित मधुप से मुकुल-सदृश वह आनन जिसमें भरा गान,
वक्षस्थल पर एकत्र धरे संसृति के सब विज्ञान-ज्ञान !
था एक हाथ में कर्म—कलश वसुधा जीवन रस सार लिये,
दूसरा विचारों के नभ को था मधुर अभय अवलम्ब दिये !
त्रिवली थी त्रिगुण तरङ्गमयी, आलोक वसन लिपटा अराल
चरणों में थी गति भरी ताल !"

वह इड़ा थी। मनु उसकी ओर आकृष्ट हुए। उसके इशारे पर राज्य प्रतिष्ठित किया, महलों से भरे नगर बसाए, सुख के सभी साधन एकत्र किए; पर प्यास नहीं बुझी। वे इड़ा को पाना चाहते थे। इड़ा ने कहा—'मैं तुम्हारी प्रजा हूँ।' मनु ने कहा—'लेकिन मैं तुम्हें रानी बनाना चाहता हूँ।' पुरुष एकबार और उच्छृङ्खल हुआ। उसने इड़ा को अपने अंकपाश की बन्दिनी बनाना चाहा, और इस प्रकार देवताओं के कोप का शिकार बना। मनु रुद्र के कोप से भी जूझ पड़े। उस समय :—

"छूट चले नाराच धनुष से तीक्ष्ण नुकीले,
टूट रहे नभ धूमकेतु अति नीले-पीले।
ताण्डव में थी तीव्र प्रगति, परमाणु विकल थे,
नियति विकर्षणमयी, त्रास से सब व्याकुल थे।
मनु फिर रहे अलात-चक्र से उस घन तम में;
वह रक्तिम उन्माद नाचता कर निर्मम में।
उठा तुमुल रणनाद, भयानक हुई अवस्था;
बढ़ा विपक्ष समूह मौन पद-दलित व्यवस्था।"

अन्त में मनु मूर्छित हुए। श्रद्धा ने स्वप्न में उनकी सारी अवस्था देखी। पुत्र को साथ लेकर वह व्याकुल विक्षुब्ध सरिता की भाँति प्रिय की खोज में निकल पड़ी। इड़ा ने दूर से उसकी विकलता की आवाज को सुना। वह कह रही थी :—

"अरे बता दो मुझे दयाकर कहाँ प्रवासी है मेरा ?
उसी बावले से मिलने को डाल रही हूँ मैं फेरा।"

अन्त में कामायनी ने मनु को देखा। मनु लज्जा और ग्लानि से गले जा रहे थे; श्रद्धा प्रेम और अनुकम्पा से भींग रही थी। दूसरे दिन आश्चर्य के साथ सबने देखा, मनु वहाँ से निकल भागे थे। कामायनी ने अपनेको अपराधी माना और इड़ा ने अपनेको। पर नारी की ममता निरस्त नहीं हुई। पुरुष की निर्ममता एक बार फिर बन्दिनी होनेवाली थी।

श्रद्धा ने अपने पुत्र मानव को इड़ा के साथ छोड़ा और स्वयं मनु को खोजने निकल पड़ी। उसकी तपस्या सफल हुई। एक निर्जन उन्नत शैल-शिखर पर आसीन श्रद्धा की उज्ज्वल मूर्ति देखी :—

बोले "रमणी तुम नहीं आह !
जिसके मन में हो भरी चाह;
तुम अपना सब कुछ खोकर,
वञ्चिते ! जिसे पाया रोकर;
मैं भगा प्राण जिनसे लेकर,
उसको भी, उन सबको देकर:
निर्दय मन क्या न उठा कराह ?
अद्भुत है तव मन का प्रवाह !"

फिर उसी शैल–शिखर के निर्जन प्रदेश में दोनों तप करने लगे। बहुत दिनों के बाद एक दिन इड़ा और मानव एक तीर्थ–यात्रियों के दल के साथ उधर ही आ निकले। अचानक सबने मनु और श्रद्धा को पहचाना। मनु ने उन्हें कुछ उपदेश दिया। सब विगत- कलुष होकर उस अपार शान्ति का रस लेने लगे :—

"मांसल–सी आज हुई थी हिमवती प्रकृति पाषाणी;
उस लास-रास में विह्वल थी हँसती–सी कल्याणी।
वह चन्द्र किरीट रजत नग स्पन्दित-सा पुरुष पुरातन;
देखता मानसी गौरी लहरों का कोमल नर्तन।"

सब अखण्ड आनन्द में निमग्न थे।

तीन सौ पृष्ठों के विशालकाय काव्य का यही सार है।

२

एक अंगरेज समालोचक ने कहा था, "शैली कवि का कोट है।" इस प्रसिद्ध अंगरेज़ मनीषी कार्लाइल ने संशोधन करते हुए बताया था, "शैली कवि का कोट नहीं उसका चर्म है।" शैली से कवि के व्यक्तित्वको पहचाना

जाता है। वह उसकी आकृति है। साधारण सहृदय भी किसी कवि या लेखक की रचना को देखकर कह उठता है, 'ऐसी रचना तो अमुक व्यक्ति की ही हो सकती है।' प्रसादजी की शैली शायद किसी भी हिन्दी कवि की अपेक्षा अधिक 'अपनी' है। उनका शब्द-चयन, उनके वाक्यांशों का घुमाव, उनके वाक्यों की रचना, उनके छन्दों का प्रवाह और गति सब अनन्य-साधारण होते हैं। वे किसी भी विषय को लाघव के साथ नहीं सोच सकते, क्षिप्रता के साथ नहीं चला सकते—सर्वत्र एक विशेष प्रकार की गुरुता, एक स्वतन्त्र वक्रता, उनकी अपनी विशेषता है।

राजशेखर ने 'काव्य-मीमांसा' में एक प्रकार के कवियों की चर्चा की है, जो एक विचित्र ढंग से कवित्व-कला की शिक्षा पाते थे। वे शब्दों की कमनीयता पर ध्यान रखकर, अर्थ को बिना सोचे-समझे, एक नियत छन्द में कविता लिख दिया करते थे। उनके गुरु अपने व्याकरण-ज्ञान के बल पर उस पद्य से खींच-खाँचकर एक अर्थ निकाल लिया करते थे और शिष्य को इस दिशा में प्रयास करने के लिए उत्साहित किया करते थे। कालक्रम से ये कवि शब्दों पर अधिकार प्राप्त करने के बाद अर्थ पर भी अधिकार कर लेते थे और उत्तम कवि हो जाया करते थे। प्राचीन काल में कवित्व-शिक्षा का यह भी एक ढंग था; पर आज के युग में यह ढंग शायद हास्यास्पद मालूम होगा। इन पंक्तियों के लेखक का कुछ ऐसा ख़याल है कि प्रसादजी ने शुरू में ऐसे ही कवित्व का अभ्यास किया होगा, इसीलिये उनकी कुछ प्रारम्भिक कविताओं को लोगों ने ठीक-ठीक नहीं समझा और उससे उनकी प्रतिभा के सम्बन्ध में ग़लतफ़हमी हो गई। 'कामायनी' की कविता निश्चयपूर्वक इस ग़लतफ़हमी को दूर कर सकती है। विषय और भाषा का इतना प्रौढ़ सामंजस्य वर्तमान हिन्दी-कविता में दुर्लभ है।

प्रसादजी ने प्राचीन साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया है, इसलिये उनकी रचना में प्राचीन शब्दों का बाहुल्य रहता है। उनके बौद्ध साहित्य-सम्बन्धी अध्ययन ने उनके जीवन-सम्बन्धी तत्त्ववाद में दुःखवाद

का पुट लगा दिया है, यद्यपि वह जीवन को दुःख-परिणाम नहीं मानते। इसका फल यह हुआ है कि प्रसादजी के सम्बन्ध में एक दूसरे प्रकार की ग़लत धारणा भी चल पड़ी है। लोगों की ऐसी धारणा हो गई है कि प्रसादजी के जीवन-तत्त्व और वर्ण्य-विषय में उनके प्रत्यक्ष अनुभव और यथार्थता (एक्युरेसी) की अपेक्षा ग्रन्थगत (बुकिशनेस) और रूढ़ि-समर्थित ज्ञान की ही अधिकता है। यह धारणा भी ग़लत है, कम-से-कम 'कामायनी' का पाठक इस बात को स्वीकार नहीं कर सकता।

पहली बात के लिए 'कामायनी' में से अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। उदाहरण के लिए कामायनी (श्रद्धा) की वियोग-विधुर अवस्था का यह सजीव चित्र उद्धृत किया जा सकता है :—

"संध्या अरुण जलज केसर ले अब तक मन थी बहलाती,
मुरझाकर कब गिरा तामरस उसको खोज कहाँ पाती!
क्षितिज भाल का कुंकुम मिटता मलिन कालिमा के कर से,
कोकिल की काकली वृथा ही अब कलियों पर मँडराती।
कामायनी कुसुम वसुधा पर पड़ी, न वह मकरन्द रहा;
एक चित्र बस रेखाओं का अब उस में है रङ्ग कहाँ!
वह प्रभात का हीन कला शशि, किरन कहाँ चाँदनी रही,
वह संध्या थी, रवि शशि तारा ये सब कोई नहीं जहाँ।
एक मौन वेदना विजन की भिल्ली की भनकार नहीं,
जगती की अस्पष्ट उपेक्षा, एक कसक साकार रही;
हरित कुञ्ज की छाया भर थी वसुधा आलिङ्गन करती,
वह छोटी-सी विरह नदी थी जिसका है अब पार नहीं।"

दूसरी बात के लिए लगभग समूची 'कामायनी' को उद्धृत किया जा सकता है। लज्जा के प्रसंग में कवि ने लज्जा का इतना सुन्दर रूप चित्रित किया है कि दो-चार पद्य उद्धृत करने का लोभ संवरण करना असम्भव है :—

"नीरव निशीथ में लतिका-सी तुम कौन आ रही हो बढ़ती ?
कोमल बाहें फैलाये--सी आलिङ्गन का जादू पढ़ती !
किन इन्द्रजाल के फूलों से लेकर सुहाग कण राग भरे;
सिर नीचाकर हो गूँथ रही माला जिससे मधु धार ढरे ?
छूने में हिचक, देखने में पलकें आँखों पर झुकती हैं;
कलरव परिहास भरी गूँजें अधरों पर सहसा रुकती हैं।
संकेत कर रही रोमाली चुपचाप बरजती खड़ी रही;
भाषा बन भौंहों की काली रेखा--सी भ्रम में पड़ी रही।
तुम कौन ? हृदय की परवशता ? सारी स्वतन्त्रता छीन रही;
स्वच्छन्द सुमन जो खिले रहे जीवन-वन से हो बीन रही।"

नारी के इस प्रश्न पर लज्जा उसे उत्तर देती है :—

"लाली बन सरस कपोलों में आँखों में अंजन-सी लगती;
कुञ्चित अलकों सी घुँघराली मनकी मरोर बनकर जगती।
चञ्चल किशोर सुन्दरता की मैं करती रहती रखवाली;
मैं वह हलकी--सी मसलन हूँ जो बनती कानों की लाली।"

नारी लज्जा से फिर पूछती है :—

"यह आज समझ तो पाई हूँ मैं दुर्बलता में नारी हूँ;
अवयव की सुन्दर कोमलता लेकर मैं सबसे हारी हूँ।
पर मन भी क्यों इतना ढीला अपने ही होता जाता है !
घनश्याम खण्ड--सी आँखों में क्यों सहसा जल भर आता है ?
निस्संबल होकर तिरती हूँ इस मानस की गहराई में;
चाहती नहीं जागरण कभी सपने की इस सुघराई में।
नारी--जीवन का चित्र यही क्या ? विकल रङ्ग भर देती हो;
अस्फुट -रेखा की सीमा में; आकार कला का देती हो।"

लज्जा जवाब देती है : —

"क्या कहती हो ठहरो नारी ! संकल्प अश्रु--जलसे अपने;
तुम दान कर चुकी पहले ही जीवन के सोने–से सपने।
नारी तुम केवल श्रद्धा हो विश्वास रजत नग पग तल में:
पीयूष स्रोत--सी बहा करो जीवन के सुन्दर समतल में।
देवों की विजय, दानवों की हारों का होता युद्ध रहा;
संघर्ष सदा उर अन्तर में जीवित रह नित्य विरुद्ध रहा।
आँसू से भींगे अञ्चल पर मन का सब कुछ रखना होगा;
तुम को अपनी स्मित रेखा से यह सन्धि--पत्र लिखना होगा।"

'कामायनी' में इस प्रकार के सुन्दर अंश इतनी अधिक मात्रा में हैं कि उनमें से कुछ चुनकर निकालना बड़ा मुश्किल है । निस्सन्देह 'कामायनी' खड़ी बोली की कविता की प्रौढ़ता का सुबूत है ।

४

'कामायनी' का कवि जीवन को दूर से देखता है । यह बात नहीं कि वह उसको सम्पूर्ण विचित्रताओं और बारीकियों की उपलब्धि नहीं करता; करता है, उसका सामना भी करता है, लेकिन उसके सामना करने का ढंग भी अनोखा ही है । एक प्रकार का दर्ज़ी होता है, जो शरीर के ऊबड़-खाबड़ अवयवों को, नजदीक जाकर, धैर्यपूर्वक परीक्षा करता है और प्रत्येक अंग में बैठने लायक सुन्दर कुर्ता तैयार कर देता है, और एक दूसरे तरह का दर्ज़ी होता है, जो कम परिश्रम और ज़्यादा कल्पना करके एक लम्बा-चौड़ा झूल तैयार कर देता है, जो प्रत्येक आदमी को ढँक सकता है। 'कामायनी' का कवि दूसरी श्रेणी का है । वह विश्व-मानव में से प्रत्येक की दुःख-सुख-सम्बन्धी अनुभूति की जाँच नहीं करता, संसार की वैचित्र्यपूर्ण समस्याओं की निकट से परीक्षा नहीं करता, बल्कि अपनी सहज कल्पना से मानवता को एक विराट सन्देश देता है, जो प्रत्येक के

काम की चीज़ है। जो लोग उसकी कविता से उस मूक, मूढ़ निर्वाक् जनता की—जिसके ललाट देश पर सौ-सौ पुश्त की करुण कहानी लिखी हुई है, जिसके कंधे पर चाहे जितना भार लाद दो प्राण रहते तक चूँ किये बिना ढोती रहती है समस्याओं का नाप-जोख खोजेंगे, वे निराश होंगे; पर धैर्य से पढ़नेवाले किसी-न-किसी प्रकार अपना कर्तव्य उसमें से खोज ही निकालेंगे। लेकिन वह उस जाति का कवि भी नहीं है, जो अपनी रंगीन कल्पना से पाठक के मन को मलय समीर के तरंगों पर झुला दे, इन्द्रजाली निकुंज-छायाओं में थपकाकर सुला दे। वह जीवन की कठिनाइयों से परिचित है—खासकर उसके दुःखमय अंश से। वह अपने पाठक को बार-बार, कभी-कभी बेमौके भी, याद दिला देता है कि जीवन खेल नहीं है:—

"इस दुखमय जीवन का प्रकाश !
नभ नील लता की डालों में उलझा अपने सुख से हताश,
कलियाँ जिनको मैं समझ रहा वे काँटे बिखरे आस-पास।
इस नियति नटी के अति भीषण अभिनय की छाया नाँच रही
खोखली शून्यता में प्रतिपद असफलता अधिक कुलाँच रही।"

और इसप्रकार के कवि से यह आशंका ही नहीं की जा सकती कि वह पाठक को कल्पना के इन्द्रजाल में बहलाकर वास्तविकता से दूर खींच ले जायगा। फिर भी 'कामायनी' का कवि अपने पाठक से यह आशा रखता है कि वह उसीके समान ध्यान-धीर बना रहे और दुनिया को एक फिलॉसफर की आँख से देखे। 'कामायनी' की दुनिया फिलॉसफर की दुनिया है, जिसमें सभी समस्याओं के तह तक पहुँचने की कोशिश तो है, पर इसी कोशिश के कारण समस्याओं की अपील ज़ोरदार नहीं हो सकी। प्रेम, घृणा, शोक और अनुकम्पा, 'कामायनी' में आकर विचारों को उत्तेजित कर देते हैं; लेकिन मनुष्य को हिला नहीं देते। वे मनुष्य के हृदय की अपेक्षा मनुष्य के विचारों को अधिक अपील करते हैं।

संक्षेप में कहना हो, तो 'कामायनी' का कवि कल्पना-प्रिय तो है, पर वह अपनी कल्पना से पाठकों को वास्तविकता की कठिनाइयों से दूर नहीं खींच लेता; वह चिन्तापरायण तो है, पर उसका चिन्तन पाठक के विचारों को ही उत्तेजित करता है और संसार के सुख-दुःख की अनुभूति से वह परिचित तो है, पर उसके अनुभव भी मनुष्य को 'क्या' की अपेक्षा 'क्यों' की ओर ही अधिक उन्मुख कर देते हैं। 'कामायनी' के कवि में और जितने भी दोष हों, वह नख से शिख तक मौलिक है। उसकी मौलिकता कभी-कभी जटिल और दुर्बोध तक हो जाती है। इस कवि ने दुनिया को मनीषी की दृष्टि से देखने का प्रयत्न किया है और मनीषी की भाँति ही उसे समझाया है। परिणाम यह हुआ है कि मनुष्य की कोमल वृत्तियों के रहस्य की ओर अधिक झुका है, स्वयं इन वृत्तियों को उतना सन्तुष्ट नहीं कर सका है। 'कामायनी' के कवि का यह प्रयत्न हिन्दी-साहित्य में अनोखा है। भावुक और भाव--प्रवण पाठक 'कामायनी' के लक्ष्यीभूत श्रोता नहीं हैं, चिन्ताशील सहृदय को लक्ष्य करके ही वह लिखी गई है। उसीको उसमें आनन्द आयेगा। सस्ती भावुकता से जर्जर वर्तमान हिन्दी-काव्य-जगत् 'कामायनी' को पाकर शान्ति और सन्तोष की साँस लेगा।

—["विशाल-भारत"—अक्टूबर, '३७]

—— ——

६

द्विवेदीजी की देन—शैली

किसी ने किसी विषय को कैसे लिखा है अर्थात् उसकी शैली क्या है, यह जानने के पहले यह जानना जरूरी है कि उसने क्या लिखा है। एक समय ऐसा भी था जब लोग 'क्या' की अपेक्षा 'कैसे' को साहित्य में प्रमुख स्थान देते थे। आज वह समय नहीं है। आज यह स्वीकार कर लिया गया है कि लेखक का वक्तव्य-विषय ही आलोच्य होना चाहिए। यदि वक्तव्य-विषय में सार है, तो वह जिस किसी ढङ्ग से लिखा गया हो, ग्रहणीय है; भले ही वह किसी रूढ़-समर्थित रूप में न हो। कबीर की वाणी साहित्य की आलोच्य और ग्रहणीय सामग्री मानी जायगी, भले ही उसकी भाषा, उसके छन्द, उसकी पद-संघट्टना शास्त्रीय और रूढ़-समर्थित न हों। और जब एकबार उसे साहित्य में स्वीकृति मिल गई तो वह स्वयं एक भावी-रूढ़ियों का रूप हो जायगी। इस प्रकार आज के युग में 'कैसे' की महिमा बहुत कुछ म्लान हो गई है। फिर भी साहित्य के साधारण अध्येता और विशेषज्ञ विवेचक दोनों के लिए लेखक की शैली का अध्ययन करना परम आवश्यक है। इसके तीन कारण हैं। तीनों में से एककी भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इन कारणों की चर्चा करने के पहले द्विवेदीजी के समस्त साहित्यिक लेखों और कविताओं को स्मरण कर लेना चाहिए। यह बात निर्विवाद है कि उस युग की साहित्यिक साधनाओं की अग्रगति को दृष्टि में रखकर, विचार करने पर, द्विवेदीजी का वक्तव्य—वस्तु प्रथम श्रेणी का नहीं ठहरता। उसमें नवीन और प्राचीन, प्राच्य और पाश्चात्य, साहित्य और विज्ञान सब कुछ हैं; पर सभी 'सेकेन्ड हैण्ड' और अनु-संकलित। इस प्रकार केवल 'क्या',

अर्थात् वक्तव्य-वस्तु के अध्ययन से हम द्विवेदीजी का मूल्य नहीं आँक सकते—आँक कर गलती करेंगे।

आधुनिक साहित्य के पारखी पंडितों ने साहित्य का विश्लेषण करके देखा है कि एक लेखक की रचना दूसरे लेखक की रचना से तीन कारणों से भिन्न हो जाया करती है। पहला तो यह कि एक व्यक्ति का स्वभाव, संस्कार और शिक्षण दूसरे से कभी भी हू-ब-हू नहीं मिलता। फलतः एक व्यक्ति सदा दूसरे से भिन्न हुआ करता है और इसीलिये एक व्यक्ति की रचना किसी भी दूसरे से स्वभावतः ही भिन्न होती है। उसकी शैली, जैसा कि अंग्रेजी कवि पोप ने कहा था, उसके विचारों की पोशाक हुआ करती है; पर केवल पोशाक कहना उसको यथार्थ कहना नहीं हुआ। इसीलिये सुप्रसिद्ध मनीषी कार्लाइल ने उक्त वक्तव्य को संशोधन करते हुए कहा था कि शैली लेखक के विचारों की पोशाक नहीं, चमड़ा है। वह मँगनी नहीं माँगी जा सकती, उधार भी नहीं दी जा सकती। इस बात को शैली का व्यक्तिगत पहलू कह सकते हैं। पर केवल व्यक्तिगत पहलू ही शैली का सब कुछ नहीं है। उसका एक दूसरा महत्त्वपूर्ण अङ्ग और भी है। एक खास युग के लेखक एक खास ढंग की ही चीज़ लिखा करते हैं। बिहारी का जन्म यदि सं० १९६० में हुआ होता, तो निश्चय ही वे वैसी सतसई नहीं लिखते। क्योंकि तब जमाना बदल गया होता और सौन्दर्य, प्रेम, मिलन, विरह आदि की प्रेरणाएँ उन्हें एकदम और ढंग से प्राप्त होतीं। और अगर वे वही सतसई इस युग में बैठकर लिखते, तो यह तो नहीं कहा जा सकता कि उन्हें देव-पुरस्कार नहीं ही मिलता, पर वे जनसाधारण के चित्त को उसी मात्रा में जीतने में कदापि समर्थ न होते। क्योंकि लेखक की शैली पर समय का प्रभाव अमिट रूप से पड़ता है। वह उसकी उपेक्षा करके कहीं का नहीं होता और उसको एकदम स्वीकार करके भी अपनी महिमा कुछ कम कर देता है। द्विवेदीजी ही अगर आज पच्चीस वर्ष के युवक होते, तो उनकी कविताएँ और ढंग की हुई होतीं। यहाँ यह साफ समझ रखने की जरूरत है कि शैली के

एक दूसरे पहलू अर्थात् ऐतिहासिक अंग—के स्वीकार करने से पहले का महत्त्व कुछ भी कम नहीं होता। उदाहरणार्थ द्विवेदीजी इस युग में भिन्न प्रकार की कविता और लेख लिखते, यह बात जितनी निश्चित है उतना ही निश्चित उनका व्यक्तिगत गुण, अर्थात् विचारों की परुष स्पष्टता, भाषा की सफाई, और वक्तव्य वस्तु के प्रति पूरी ईमानदारी भी है। शैली का तीसरा महत्त्वपूर्ण पहलू उसका शास्त्रीय उपस्थापन है। इसमें वक्तव्य वस्तु के बौद्धिक, भावावेशमूलक और सामञ्जस्य-बोध-मूलक उपकरण शामिल हैं। अर्थात् (१) उपयुक्त शब्दों का उपयुक्त व्यवहार, विचारों के अनुकूल वाक्यों के रूप ग्रहण करने की क्षमता या लचीलापन और औचित्य ज्ञान (२) वक्तव्य-वस्तु को हृदयंगम कराने के लिए केवल ज्ञान का विस्तार—दर्शन ही नहीं, वरन् पाठक को आकृष्ट करने की अलौकिक क्षमता और (३) विविध शास्त्रीय वस्तुओं का उचित सामञ्जस्य—ये सभी शामिल हैं।

यदि हम इन बातों को सामने रखकर द्विवेदीजी की समीक्षा करें तो हमें एक आश्चर्यजनक अवतारी पुरुष का स्पष्ट परिचय मिलेगा। उनका व्यक्तित्व उनके लेखों में अत्यन्त स्पष्ट हो उठा है। जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, उनके लेखों और कविताओं में कोई नवीनता नहीं है। अधिकांश लेख यह कहकर प्रारम्भ होते हैं कि इस विषय पर अमुक भाषा की अमुक पत्रिका में एक पठनीय लेख छपा है। इन पंक्तियों के लेखक को कभी-कभी मूल लेखों के साथ द्विवेदीजी के लेख को मिलाकर पढ़ने का अवसर मिला है। मूल लेख की प्रकाशन भंगी को द्विवेदीजी ने एकदम नया रूप दिया है। अगर वे स्वयं न कह देते कि उनका लेख उक्त विशेष लेख का सारांश है, तो दोनों के एक ही होने का संदेह सब लोग नहीं कर सकते। मूल की वक्तव्य-वस्तु नया चोला पहनकर सामने आती है। दो बातें स्पष्ट ही समझ में आ जाती हैं। पहली यह कि यह आदमी नख से शिख तक ईमानदार है। वह ऐसी एक भी पंक्ति जो दूसरे ने लिखी हो, अपने नाम से नहीं चलाना चाहता।

इस नाम कमाने के उपहासास्पद युग में, जब नामी-नामी लेखकों में भी दूसरे के वक्तव्य-वस्तु को नया चोला पहनाकर अपनाने की पागलपन-भरी धुन सवार है, वह अकेला प्रवाह के विरुद्ध निश्चल खड़ा है। दूसरी बात यह कि उसने ज्ञान के प्रचार को पूजा की बुद्धि से ग्रहण किया है। उसमें उसने आत्म-शुद्धि के साथ ही मंदिर की सफ़ाई की ओर भी ध्यान दिया है। जो कुछ भी सड़ा-गला, कूड़ा-करकट है, उसे वह मन्दिर में देख नहीं सकता। इस विषय में वह निर्मम और कठोर है। इन लेखों को पढ़कर द्विवेदीजी से हज़ार कोस दूर और हज़ार वर्ष बाद भी पैदा हुआ आदमी आसानी से समझ सकता है कि इसके पीछे एक निर्मम कठोर, उच्छ्वास-हीन, ईमानदार, मैटर-आफ़-फैक्ट व्यक्तित्व है।

द्विवेदीजी जिस युग में लेखनी-चालना कर रहे थे, उस युग का व्यक्तित्व भी उनकी रचनाओं में स्पष्ट ही दीख जाता है। उनके युग का भारतवर्ष पुराने और नए के संघर्ष में से गुज़र रहा है, वह उत्सुकता के साथ नई-नई गवेषणाओं को सुनना चाहता है, फिरकर पीछे की ओर देखकर यह भी जान लेना चाहता है कि उसके पूर्व पुरुषों ने ऐसी बात कही है या नहीं और सन्देह के साथ अपने ज्ञान-विज्ञान के आधार की जाँच कर लेना चाहता है। उसके सामने नवयुग का द्वार खुल गया है। अपरिचित स्वर्णयुग विस्मृति के गहन अन्धकार से धीरे-धीरे सिर उठा रहा है। नवीन के प्रति उत्कट औत्सुक्य और प्राचीन के प्रति दुर्दमनीय निष्ठा, यही उस भारतवर्ष का परिचय है। द्विवेदीजी ने इन दोनों बातों का बड़ा ही प्रौढ़ सामञ्जस्य किया। वे खोज-खोजकर नवीन विषयों का ज्ञान सञ्चय करते रहे और प्राचीन गौरव की याद दिलाते रहे। सर्वत्र उन्होंने युग की इस विशेषता को अपने व्यक्तिगत संयम, निष्ठा और ईमानदारी से अधिकाधिक आकर्षक बना दिया। यह सब कुछ उन्हें एकदम नए सिरे से करना पड़ा। नए विचारों को नए प्राणों के स्पन्दन सहित प्रकाश कर सकने की क्षमता उस युग की भाषा में नहीं थी। प्राचीन गौरव को नए वैज्ञानिक रूप में प्रकट करने की सामर्थ्य भी उसमें

कम ही थी। इस दूसरी श्रेणी की बातें उस युग की भाषा में या तो उच्छ्वासपूर्ण आवेग के रूप में प्रकट की जाती थीं या पक्षपातपूर्ण असम्भव जल्पनाओं के रूप में। द्विवेदीजी की रचनाओं में ही सबसे पहले इस बात का आभास मिला कि भारतीय गौरव केवल देश-भक्ति के उमंग में दी गई सम्भव-असम्भव उच्छ्वासमयी वक्तृताओं से नहीं, बल्कि वैज्ञानिक यथार्थवादिता के रूप में प्रकट करने से ही देशवासियों को अपनी वास्तविक स्थिति का ज्ञान कराने में समर्थ हो सकता है। असल में द्विवेदीजी की परुष और निर्मम शैली ने ही उनमें वैज्ञानिक यथार्थवादिता भरी। उन्होंने वह भाषा तैयार की जो हमारे प्राचीन गौरव को यथार्थ रूप में प्रकट कर सके। अतिरंजित, काल्पनिक, आवेगपूर्ण और खर्चकारी भाषा, जो उन दिनों बहुत अधिक प्रचलित थी, उनके परुष हाथों में आकर संयत, उचित और साफ़ बन गई। यद्यपि उनकी भाषा का बौद्धिक उपकरण भावावेशमूलक उपकरण से कहीं अधिक था, पर जिस युग में वे पैदा हुए थे, उस युग के लिये यह कमी गुण हो गई। उनसे कम परुष, कम बुद्धि-परवश और अधिक भावावेशी पुरुष के हाथों पड़ने पर हमारी संक्रान्तिकालीन भाषा में एक ऐसा ढीलापन रह गया होता, जिसके सुधारने के लिए शायद अब तक किसी और अवतारी पुरुष की बाट हम जोहते रहते। इन पंक्तियों का लेखक यह बात कहते समय यह भूल नहीं रहा है कि उक्त युग में और भी कितने ही साहित्यिक हुए जिनकी सेवाएँ हिन्दी-भाषा और साहित्य के लिये कम उपयोगी तो थी ही नहीं, कई अंशों में अधिक भी थीं। पर यह सब जानकर भी उसे उक्त बात के कहने में कोई संकोच नहीं हो रहा है। क्योंकि और आचार्यों ने जहाँ अन्य विषयों से साहित्य के भाण्डार को भरा, वहाँ द्विवेदीजी ने भाषा को मांज-घिसकर उपयुक्त बनाने में सबसे अधिक परिश्रम किया। सच पूछा जाय तो संसार के आधुनिक-साहित्य में यह एक अद्भुत-सी बात है कि एक आदमी अपने 'क्या' के बल पर नहीं, बल्कि 'कैसे' के बल पर साहित्य का स्रष्टा होगया। संसार बहुत बड़ा है, उसका साहित्य भी छोटा नहीं, इसलिये

यह दावा तो नहीं किया जा सकता कि यह घटना केवल हमारे साहित्य में ही हुई है, पर इतना निश्चित है कि ऐसा होता बहुत कम है। आज जब द्विवेदीजी का निधन हो गया है, हम युवजनोचित आवेग में उनके प्रति नाना स्तुति-वाक्यों से अपनी अतिरञ्जित भक्ति प्रकट करने लगे हैं। पूज्य पुरुषों का सम्मान करने की दृष्टि से यह बात बुरी नहीं है; पर साहित्य के क्षेत्र में अत्यधिक उच्छ्वास उचित भी नहीं है। इस अवसर पर हमारे वाक्य चिन्ता और अध्ययन की वल्गा से संयमित होने चाहिए। हम उस युग के अन्यान्य साहित्यिक महारथियों की महिमा को संपूर्ण स्वीकार करते हुए भी निःसंकोच कह सकते हैं कि भाषा को युगोचित, उच्छ्वास-हीन, स्पष्टवादी और वक्तव्य-अर्थ के प्रति ईमानदार बनाकर जो काम द्विवेदीजी कर गए हैं, वही उन्हें हिन्दी साहित्य में अद्वितीय स्थान का अधिकारी बनाता है। साधारणतः साहित्यक्षेत्र में भाषा के प्रजापतिगण केवल शैली और भाषा के बल पर इस महत्त्वपूर्ण आसन पर अधिकार नहीं करते, परन्तु द्विवेदीजी एक ऐसे अद्भुत मुहूर्त में आए थे और एक ऐसी प्रकृति और ऐसा संस्कार लेकर आविर्भूत हुए थे कि वे उस आसन पर निर्विवाद भाव से अधिकार कर सके। साहित्य के जगत् में यह एक असाधारण व्यापार है।

—['साहित्य-सन्देश', अप्रैल '३९]

७

हिन्दी का भक्ति—साहित्य

जिस समय हिंदी का भक्ति-साहित्य बनना शुरू हुआ था वह समय एक युग-संधि का काल था। प्रथमबार भारतीय समाज को एक ऐसी परिस्थिति का सामना करना पड़ रहा था जो उसकी जानी हुई नहीं थी। अब तक वर्णाश्रम—व्यवस्था का कोई प्रतिद्वंद्वी नहीं था। आचारभ्रष्ट व्यक्ति समाज से अलग कर दिए जाते थे और वे एक नई जाति की रचना कर लिया करते थे। इस प्रकार यद्यपि सैकड़ों जातियाँ और उपजातियाँ बनती जा रही थीं, तथापि वर्णाश्रम व्यवस्था किसी—न—किसी प्रकार चलती ही जा रही थी। अब सामने एक सुसंगठित समाज था जो प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक जाति को अपने अन्दर समान आसन देने की प्रतिज्ञा कर चुका था। एक बार कोई भी व्यक्ति उसके विशेष धर्ममत को यदि स्वीकार कर ले तो इस्लाम समस्त भेद-भाव को भूल जाता था। वह राजा से रंक और ब्राह्मण से चाण्डाल तक सब को धर्मोपासना का समान अधिकार देने को राज़ी था। समाज का दण्डित व्यक्ति अब असहाय न था। इच्छा करते ही वह एक सुसंगठित समाज का सहारा पा सकता था। ऐसे ही समय में दक्षिण से भक्ति का आगमन हुआ जो "बिजली की चमक के समान" इस विशाल देश के इस कोने से उस कोने तक फैल गई। इसने दो रूपों में अपने आपको प्रकाशित किया। यही वे दो धारायें हैं जिन्हें निर्गुण-धारा और सगुण-धारा नाम दे दिया गया है। इन दोनों साधनाओं ने दो पूर्ववर्ती धर्ममतों को केंद्र बनाकर ही अपने आपको प्रकट किया। सगुण उपासना ने पौराणिक अवतारों को केन्द्र बनाया और निर्गुण उपासना ने योगियों अर्थात् नाथपंथी साधकों के निर्गुण परब्रह्म को। पहली साधना

ने हिन्दू जाति की बाह्याचार की शुष्कता को आन्तरिक प्रेम से सींचकर रसमय बनाया और दूसरी साधना ने बाह्याचार की शुष्कता को ही दूर करने का प्रयत्न किया। एकने समझौते का रास्ता लिया, दूसरीने विद्रोह का; एकने शास्त्र का सहारा लिया, दूसरीने अनुभव का; एकने श्रद्धा को पथ-प्रदर्शक माना, दूसरीने ज्ञान को; एकने सगुण भगवान् को अपनाया, दूसरीने निर्गुण भगवान् को। पर प्रेम दोनोंका ही मार्ग था, सूखा ज्ञान दोनोंको ही अप्रिय था; केवल बाह्याचार दोनोंमें से किसीका सम्मत नहीं था, आन्तरिक प्रेम-निवेदन दोनोंको इष्ट था; अहेतुक भक्ति दोनोंकी काम्य थी, आत्म-समर्पण दोनोंके साधन थे। भगवान् की लीला में दोनों ही विश्वास करते थे। दोनों ही का अनुभव था कि भगवान् लीला के लिये ही इस जागतिक प्रपंच को सम्हाले हुए हैं। पर प्रधान भेद यह था कि सगुण भाव से भजन करनेवाले भक्त भगवान् को अलग रखकर देखने में रस पाते रहे, जबकि निर्गुण भाव से भजन करनेवाले भक्त अपने आप में रमे हुए भगवान् को ही परम काम्य मानते थे।

उन दिनों भारतवर्ष के शास्त्रज्ञ विद्वान् निबंध रचना में जुटे हुए थे। उन्होंने प्राचीन भारतीय परम्परा को शिरोधार्य कर लिया था,—अर्थात् सब कुछ को मानकर, सबके प्रति आदर का भाव बनाए रखकर, अपना रास्ता निकाल लेना। सगुण भाव से भजन करनेवाले भक्त लोग भी संपूर्ण रूप से इसी पुरानी परम्परा से प्राप्त मनोभाव के पोषक थे। वे समस्त शास्त्रों और मुनिजनों को अकुंठ चित्त से अपना नेता मानकर उनके वाक्यों की संगति प्रेम–पक्ष में लगाने लगे। इसके लिए उन्हें मामूली परिश्रम नहीं करना पड़ा। समस्त शास्त्रों क प्रेम–भक्ति–मूलक अर्थ करते समय उन्हें नाना अधिकारियों और नाना भजन-शैलियों की आवश्यकता स्वीकार करनी पड़ी, नाना अवस्थाओं और अवसरों की कल्पना करनी पड़ी, और शास्त्र-ग्रन्थों के तारतम्य की भी कल्पना करनी पड़ी। सात्त्विक, राजसिक और तामसिक प्रकृति के प्रस्तार-विस्तार से अनन्त प्रकृति के भक्तों और अनन्त प्रणाली के भजनों

की कल्पना करनी पड़ी। सबको उन्होंने उचित मर्यादा दी और यद्यपि अन्त तक चलकर उन्हें भागवत महापुराण को ही सर्व-प्रधान प्रमाण ग्रन्थ मानना पड़ा था, पर अपने लम्बे इतिहास में उन्होंने कभी भी किसी शास्त्र के संबंध में अवज्ञा या अवहेला का भाव नहीं दिखाया। उनकी दृष्टि बराबर भगवान् के परम प्रेममय रूप और मनोहारिणी लीला पर निबद्ध रही, पर उन्होंने बड़े धैर्य के साथ समस्त शास्त्रों की संगति लगाई। सगुण भाव के भक्तों की महिमा उनके असीम धैर्य और अध्यवसाय में है, पर निर्गुण श्रेणी के भक्तों की महिमा उनके उत्कट साहस में है। एकने सब कुछ को स्वीकार करने का अद्भुत धैर्य दिखाया दूसरेने सब कुछ छोड़ देने का असीम साहस।

लेकिन केवल भगवत्प्रेम या पांडित्य ही इस युग के साहित्य को रूप नहीं दे रहे थे। कम-से-कम हिंदी के भक्ति-साहित्य को काव्य के नियमों और प्रभावों से अलग करके नहीं देखा जा सकता। अलंकार-शास्त्र और काव्यगत रूढ़ियों से उसे एकदम मुक्त नहीं कहा जा सकता। परन्तु फिर भी वह वही चीज़ नहीं है जो संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के पूर्ववर्ती साहित्य हैं। विशेषताएँ बहुत हैं और हमें उन्हें सावधानी से जाँचना चाहिए।

यह स्मरण किया जा सकता है कि अलंकारशास्त्र में देवादि-विषयक रति को भाव कहते हैं। जिन आलंकारिकों ने ऐसा कहा था उनका तात्पर्य यह था कि पुरुष का स्त्री के प्रति और स्त्री का पुरुष के प्रति जो प्रेम होता है उसमें एक स्थायित्व होता है, जब कि किसी राजा या देवता संबंधी प्रेम में भावावेश की प्रधानता होती है, वह अन्यान्य संचारी भावों की तरह बदलता रहता है। परन्तु यह बात ठीक नहीं कही जा सकती। भगवद्-विषयक प्रेम को इस विधान के द्वारा नहीं समझाया जा सकता। यह कहना कि भगवद्विषयक प्रेम में निर्वेद भाव की प्रधानता रहती है, अर्थात् उसमें जगत् के प्रति उदासीन होने की वृत्ति ही प्रबल होती है, केवल जड़जगत् से मानसिक संबंध को ही प्रधान मान लेना है। इस कथन का स्पष्ट अर्थ यह है कि मनुष्य के साथ जड़जगत् के संबंध की ही स्थायिता पर से

रस का निरूपण होगा। क्योंकि अगर ऐसा न माना जाता तो शान्त रस में जगत् के साथ जो निर्वेदात्मक संबंध है, उसे प्रधानता न देकर भगवद्विषयक प्रेम को प्रधानता दी जाती। जो लोग शान्त रस का स्थायी भाव निर्वेद को न कहकर शम को कहना चाहते हैं, वे वस्तुतः इसी रास्ते सोचते हैं।

इस प्रसंग में बारंबार 'जड़-जगत्' शब्द का उल्लेख किया गया है। यह शब्द भक्ति शास्त्रियों का पारिभाषिक शब्द है। इस प्रसंग का विचार करते समय याद रखना चाहिए कि भारतीय दर्शनों के मत से शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि सभी जड़ प्रकृति के विकार हैं। इसीलिये चिद्विषयक प्रेम केवल भगवान् से संबंध रखता है। इस परम प्रेम के प्राप्त होने पर, भक्तिशास्त्रियों का दावा है, कि अन्यान्य जड़ोन्मुख प्रेम शिथिल और अकृतकार्य हो जाते हैं। इसीलिये भगवत्-प्रेम न तो इंद्रिय-ग्राह्य है, न मनोगम्य, और न बुद्धि-साध्य। वह अनुमान द्वारा ही आस्वाद्य है। जब इस रस का साक्षात्कार होता है तो अपना कुछ भी नहीं रह जाता। इन्द्रियों द्वारा किया हुआ कर्म हो या मन-बुद्धि-स्वभाव द्वारा, वह समस्त सच्चिदानन्द नारायण में जाकर विश्रमित होता है। भागवत् ने (११. २. ३६) इसीलिये कहा है:

"कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वानुसृतस्वभावात्।
करोमि यद्यत् सकल परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत्॥"

पर निर्गुण भाव से भजन करनेवाले भक्तों की वाणियों के अध्ययन के लिये शास्त्र बहुत कम सहायक हैं। अब तक इनके अध्ययन के लिये जो सामग्री व्यवहृत होती रही है, वह पर्याप्त नहीं है। हमें अभी तक ठीक ठीक नहीं मालूम कि किस प्रकार की सामाजिक अवस्थाओं के भीतर भक्ति का आन्दोलन शुरू हुआ था। इस बात के जानने का सबसे बड़ा साधन लोक गीत, लोक-कथानक और लोकोक्तियाँ हैं, और उतने ही महत्त्वपूर्ण विषय हैं भिन्न भिन्न जातियों और संप्रदायों की रीतिनीति,

पूजा-पद्धति और अनुष्ठानों तथा आचारों की जानकारी। पर दुर्भाग्यवश हमारे पास ये साधन बहुत ही कम हैं। भक्तिसाहित्य के पढ़नेवाले पाठक को जो बात सबसे पहले आकृष्ट करती है--विशेषकर निर्गुण भक्ति के अध्येता को—वह यह है कि उन दिनों उत्तर के हठयोगियों और दक्षिण के भक्तों में मौलिक अन्तर था। एकको अपने ज्ञान का गर्व था, दूसरेको अपने अज्ञान का भरोसा; एकके लिये पिंड ही ब्रह्माण्ड था, दूसरेके लिये ब्रह्माण्ड ही पिंड; एकका भरोसा अपने पर था, दूसरेका राम पर; एक प्रेम को दुर्बल समझता था, दूसरा ज्ञान को कठोर; एक योगी था और दूसरा भक्त। इन दो धाराओं का अद्भुत मिलन ही निर्गुणधारा का वह साहित्य है जिसमें एक तरफ़ कभी न झुकनेवाला अक्खड़पन है और दूसरी तरफ़ घर-फूँक मस्तीवाला फक्कड़पन। यह साहित्य अपने आप में स्वतन्त्र नहीं है। नाथमार्ग की मध्यस्थता में इसमें सहजयान और वज्रयान की तथा शैव और तंत्रमत की अनेक साधनाएँ और चिन्ताएँ आ गई हैं तथा दक्षिण के भक्ति-प्रचारक आचार्यों की शिक्षा के द्वारा वेदान्तिक और अन्य शास्त्रीय चिन्ताएँ भी।

मध्ययुग के निर्गुण कवियों के साहित्य में आनेवाले सहज, शून्य निरंजन, नाद, विन्दु आदि बहुतेरे शब्द, जो इस साहित्य के मर्मस्थल के पहरेदार हैं, तब तक समझ में नहीं आ सकते, जब तक पूर्ववर्ती साहित्य का अध्ययन गंभीरतापूर्वक न किया जाय। अपनी 'कबीर' नामक पुस्तक में मैंने इन शब्दों के मनोरंजक इतिहास की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है। एक मनोरंजक उदाहरण दे रहा हूँ। यह सभी को मालूम है कि कबीर और अन्य निर्गुणिया सन्तों के साहित्य में 'खसम' शब्द की बारबार चर्चा आती है। साधारणतः इसका अर्थ पति या निकृष्ट पति किया जाता है। खसम शब्द से मिलता जुलता एक शब्द अरबी भाषा का है। इस शब्द के साथ समता देखकर ही खसम का अर्थ पति किया जाता है। कबीरदास ने इस शब्द का अर्थ कुछ इस लहज़े में किया है कि उससे ध्वनि निकलती है कि खसम उनकी दृष्टि में निकृष्ट

पति है। परन्तु पूर्ववर्ती साधकों की पुस्तकों में यह शब्द एक विशेष अवस्था के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। ख-सम भाव अर्थात् आकाश के समान भाव। समाधि की एक विशेष अवस्था को योगी लोग भी 'गगनोपम' अवस्था कहा करते हैं। 'ख-सम' और 'गगनोपम' एक ही बात है। अवधूतगीता में इस गगनोपमावस्था का विस्तारपूर्वक वर्णन है। यह मन की उस अवस्था को कहते हैं जिसमें द्वैत और अद्वैत, नित्य और अनित्य, सत्य और असत्य, देवता और देवलोक आदि कुछ भी प्रतीत नहीं होते; जो माया-प्रपंच के ऊपर है, जो दम्भादि व्यापार के अतीत है, जो सत्य और असत्य के परे है और जो ज्ञानरूपी अमृतपान का परिणाम है। टीकाकारों ने 'ख-सम' का अर्थ 'प्रभास्वरतुल्यभूता' किया है। इस साहित्य में वह भावाभावविनिर्मुक्त अवस्था का वाचक हो गया है, निर्गुण साधकों के साहित्य में उसका अर्थ और भी बदल गया है। गगनोपमावस्था योगियों की दुर्लभ सहजावस्था के आसन से यहाँ नीचे उतर आई है। कबीरदास प्राणायाम प्रभृति शारीर-प्रयत्नों से साधित समाधि का बहुत आदर करते नहीं जान पड़ते। जो सहजावस्था शारीर प्रयत्नों से साधी जाती है वह ससीम है और शरीर के साथ ही साथ उसका विलय हो जाता है। यही कारण है कि कबीरदास इसप्रकार की ख-समावस्था को सामयिक आनंद ही मानते थे। मूल वस्तु तो भक्ति है जिसके प्राप्त होने पर भक्त को नाक-कान रूँधने की ज़रूरत ही नहीं होती; कंथा और मुद्रा-धारण की आवश्यकता ही नहीं होती। वह 'सहज समाधि' का अधिकारी होता है—सहज समाधि, जिसमें 'कहूं सो नाम, सुनूं सो सुमरन, जो कछु करूं सो पूजा' ही है। अब तक पूर्ववर्ती साहित्य के साथ मिलाकर न देखने के कारण पंडित लोग 'खसम' शब्द के इस महान् अर्थ को भूलते आए हैं। मैंने उल्लिखित 'कबीर' पुस्तक में विस्तृत भाव से इस शब्द के पूर्वापर अर्थ का विचार किया है और इसीलिये मैं यह कहने का साहस करता हूँ कि कबीरदास 'खसम' शब्द का व्यवहार करते समय उसके अरबी अर्थ के अतिरिक्त भारतीय अर्थ को भी बराबर ध्यान

में रखते रहे हैं। मेरा विश्वास है कि नेपाल और हिमालय की तराइयों में जहाँ जहाँ योगमार्ग का प्रबल प्रचार था, वहाँ के लोक-गीत और लोक कथानकों से ऐसे अनेक रहस्यों का उद्‌घाटन हो सकता है।

परन्तु संयोग और सौभाग्यवश जो पुस्तकें हमारे हाथ में आ गई हैं उनको ही अध्ययन का प्रधान अवलंब नहीं माना जा सकता। पुस्तकों में लिखी बातों से हम समाज की एक विशेष प्रकार की चिन्ताधारा का परिचय पा सकते हैं। इस कार्य को जो लोग हाथ में लेंगे उनमें प्रचुर कल्पना-शक्ति की आवश्यकता होगी। भारतीय समाज जैसा आज है वैसा ही हमेशा नहीं था। नये नये जनसमूह इस विशाल देश में बराबर आते रहे हैं और अपने विचारों और आचारों का कुछ-न-कुछ प्रभाव छोड़ते गए हैं। पुरानी समाज-व्यवस्था भी सदा एक-सी नहीं रही है। आज जो जातियाँ समाज के सबसे निचले स्तर में विद्यमान हैं, वे सदा वहीं नहीं रहीं, और न वे सभी सदा ऊँचे स्तर में ही रही हैं जो आज ऊँची हैं। इस विराट् जन समुद्र का सामाजिक जीवन बहुत स्थितिशील है, फिर भी ऐसी धाराएँ इसमें एकदम कम नहीं हैं जिन्होंने उसकी सतह को आलोड़ित-विलोड़ित किया है। एक ऐसा भी ज़माना गया है जब इस देश का एक बहुत बड़ा जन-समाज ब्राह्मण-धर्म को नहीं मानता था। उसकी अपनी पौराणिक परम्परा थी, अपनी समाज-व्यवस्था थी, अपनी लोक-परलोक-भावना भी थी। मुसलमानों के आने के पहले ये जातियाँ हिन्दू नहीं कही जाती थीं—कोई भी जाति तब हिन्दू नहीं कही जाती थी। मुसलमानों ने ही इस देश के रहनेवालों को पहले-पहल हिन्दू नाम दिया। किसी अज्ञात सामाजिक दबाव के कारण इनमें की बहुतसी अल्पसंख्यक अपौराणिक मत की जातियाँ या तो हिन्दू होने को बाध्य हुईं या मुसलमान। इस युग की यह एक विशेष घटना है जब प्रत्येक मानव-समूह को किसी-न-किसी बड़े कैम्प में शरण लेने को बाध्य होना पड़ा। उत्तरी पंजाब से लेकर बंगाल की ढाका कमिश्नरी तक एक अर्द्धचंद्राकृति भूभाग में जुलाहों को देखकर रिज़ली साहब ने अपनी पुस्तक

'पीपुल्स आफ़ इन्डिया' (पृ० १२६) में लिखा है कि इन्होंने कभी समूहरूप में मुसलमानी धर्म ग्रहण किया था। कबीर, रज्जब आदि महापुरुष इसी वंश के रत्न थे। वस्तुतः ही वे 'ना-हिन्दू-ना-मुसलमान' थे। सहजपंथी साहित्य के प्रकाशन ने एक बात को अत्यधिक स्पष्ट कर दिया है। मुसलमान-आगमन के अव्यवहित पूर्वकाल में डोम-हाड़ी या हलखोर आदि जातियाँ काफ़ी सम्पन्न और शक्तिशाली थीं। मैं यह तो नहीं कहता कि ग्यारहवीं शताब्दी के पहले वे ऊँची जातियाँ मानी जाती थीं, पर इतना कह सकता हूँ कि वे शक्तिशाली थीं और दूसरों के मानने-न-मानने की उपेक्षा कर सकती थीं।

निर्गुण-साहित्य के अध्येता को, इन जातियों की लोकोक्तियाँ और क्रिया-कलाप ज़रूर जानने चाहिए। उसे यह नहीं भूलना चाहिए कि इस अध्ययन की सामग्री न तो एक प्रान्त में सीमित है, न एक भाषा में, न एक काल में, न एक जाति में और न एक सम्प्रदाय में ही। व्यक्तिगत रूप में इस साहित्य के प्रत्येक कवि को अलग समझने से यह सारा साहित्य अस्पष्ट और अधूरा लगता है। यद्यपि नाना कारणों से कबीर का व्यक्तित्व बहुत ही आकर्षक हो गया है। वे नाना भांति की परस्पर विरोधी परिस्थितियों के मिलन-विंदु पर अवतीर्ण हुए थे, जहाँ से एक ओर हिन्दुत्व निकल जाता है और दूसरी ओर मुसलमानत्व, जहाँ एक ओर ज्ञान निकल जाता है दूसरी ओर अशिक्षा, जहाँ एक ओर योग-मार्ग निकल जाता है दूसरी ओर भक्ति-मार्ग, जहाँ से एक तरफ़ निर्गुण भावना निकल जाती है दूसरी ओर सगुण साधना। उसी प्रशस्त चौरास्ते पर वे खड़े थे। वे दोनों ओर देख सकते थे और परस्पर-विरुद्ध दिशा में गए हुए मार्गों के दोष-गुण उन्हें स्पष्ट दिखाई दे जाते थे। यह कबीरदास का भगवद्दत्त सौभाग्य था। वे साहित्य को अक्षय प्राणरस से आप्लावित कर सके थे। पर इसी को सब-कुछ मानकर यदि हम चुप बैठ जायँ तो इसे भी ठीक ठीक नहीं समझ सकेंगे। आचार्य श्रीक्षितिमोहन सेन ने 'ओझा-अभिनंदन-ग्रंथमाला' में एक लेख द्वारा दिखाया है कि मध्ययुग का भक्ति-साहित्य-किस प्रकार भिन्न भिन्न प्रान्तों के साथ संबद्ध है।

साहित्य का इतिहास पुस्तकों और ग्रन्थकारों के उद्भव और विलय की कहानी नहीं है। वह कालस्रोत में बहे आते हुए जीवन्त समाज की विकास-कथा है। ग्रन्थकार और ग्रन्थ उस प्राणधारा की ओर इशारा भर करते हैं। वे ही मुख्य नहीं हैं; मुख्य है वह प्राणधारा जो नाना परिस्थितियों से गुज़रती हुई आज हमारे भीतर आत्म-प्रकाश कर रही है। साहित्य के इतिहास से हम अपने आपको ही पढ़ते हैं, वही हमारे आनन्द का कारण होता है। यह प्राणधारा अपनी पारिपार्श्विक अवस्थाओं से विच्छिन्न और स्वतन्त्र नहीं है। इसी रूप में हमें भक्ति-साहित्य को भी देखना है।

— ['विश्वभारती-पत्रिका', अप्रैल '४२]

८

नई समस्याएँ

१

हिन्दी के साहित्यिकों के सामने इस समय कई अत्यन्त महत्त्व के प्रश्न हैं। इन प्रश्नों को लेकर साहित्य क्षेत्र में कई दल बन गए हैं। प्रथम अत्यन्त जटिल प्रश्न उपस्थित हुआ है बोलियों का। कई बोलियों के बोलनेवाले अपनी विशेष बोली को स्वतन्त्र भाषा के रूप में विकसित करना चाहते हैं। पूर्व में मैथिली और पश्चिम में राजस्थानी की ओर से यह दावा उत्थापित किया गया है कि वे हिन्दी की उपभाषा नहीं हैं

और उन्हें अपने को स्वतन्त्र भाषा के रूप में विकसित करने का अवसर मिलना चाहिए। अब, जहाँ तक किसी भाषा के विकसित होने का प्रश्न है, कोई भी उसमें बाधा नहीं पहुँचा सकता। यदि मैथिली–क्षेत्र के प्रतिभाशाली कवि और नाटककार अपनी भाषा में काव्य-नाटक लिखें तो उन्हें कौन रोक सकता है? परन्तु बाधा यहाँ नहीं है। आजकल बड़े बड़े विश्वविद्यालय हैं, अदालतें हैं, सरकारें हैं, रेडियो और प्रेस हैं; इन सबका आश्रय लिए बिना और इन सबकी छाया पाए बिना कोई भाषा ठीक तौर से पनप नहीं सकती। विद्यापति केवल प्रतिभा के बल पर चल पड़े थे परन्तु आज के विद्यापति के लिये बहुत कुछ अपेक्षित है। यह तो सिर्फ़ बात की बात है कि अनन्तकाल में विद्यापति–जैसा प्रतिभाशाली कवि किसी न किसी दिन समादृत होकर ही रहेगा। जब कहा जाता है कि अमुक बोली या भाषा को पनपने का अवसर मिलना चाहिए तो उसका मतलब वस्तुतः यह होता है कि उसकी पुस्तकें पाठ्यतालिका में आनी चाहिएं, विश्वविद्यालय को उस भाषा के माध्यम से ऊंची से ऊंची शिक्षा देनी चाहिए, उस भाषा के कवियों और नाटककारों का उच्चतर आलोचनात्मक अध्ययन होना चाहिए, उस प्रदेश की सरकारी अदालतों में उस भाषा को स्थान मिलना चाहिए, उस देश के प्रेसों को, उस देश के रेडियो–विभाग को, उस भाषा में संवाद प्रचार करके उस भाषा के बोलनेवालों की उचित सेवा करनी चाहिए, इत्यादि। इनसे कम सुविधाओं को भोगने के लिये जो लोग आन्दोलन करते हैं वे चूहे के लिए पहाड़ खोदते हैं। इस प्रश्न पर स्वभावतः ही–दो दल हो गए हैं। एक दल कहता है, इससे अनर्थ हो जायगा, दूसरा कहता है, यही एकमात्र उत्तम मार्ग है। दोनों ओर से भाषाशास्त्रीय युक्तियां उपस्थित की जाती हैं, शास्त्रीय, सूक्ष्म तर्कों की अवतारणा की जाती है, आदर्श समझे जानेवाले देशों के इतिहास और आधुनिक विधान का हवाला दिया जाता है। साधारण पाठक युक्तियों के जाल में बुरी तरह फंस जाता है।

सबकी युक्तियों में सार है, परन्तु कौन-सा ग्रहणीय है, इसका प्रमाण क्या है ? खरे और खोटे समझने की कसौटी क्या है ?

ऊपर जो हिन्दी की उपभाषाओं की स्वतन्त्रता के दावे की बात कही गई है वह सिर्फ़ कई जटिल प्रश्नों में से एक है। प्रश्न और भी कई हैं। अब तक हिन्दी साहित्यिकों का भाषा के प्रश्न पर दूसरों से ही मतभेद रहा है। आपस में उनका कोई बड़ा मतभेद नहीं रहा है। परन्तु आज उनके अपने समूह में ही अनेक मतों के पोषक दल उत्पन्न हो गए हैं। साहित्यिक प्रयत्नों के केंद्रीकरण पर मतभेद है, संस्कृत और फ़ारसी शब्दों का प्रयोग-तारतम्य भी पारस्परिक कलह का कारण बना है, हिन्दी और हिन्दुस्तानी में से कौन सा नाम व्यवहार्य है, यह भी टंटे का कारण हुआ है। ये तो भाषा सम्बन्धी जटिलताएं हुई। विषयगत मतभेद भी हैं। वक्तव्य-वस्तु को देखने और उपस्थापन करने की प्रणालियों के विषय में गहरा मतभेद हो गया है। इस मतभेद ने समूचे जीवन को प्रभावित किया है। साहित्य केवल बुद्धि-विलास नहीं रह गया है। उसके उपासक यह कहकर चुप नहीं बैठ सकते कि हम तो सरस्वती के उपासक हैं, हमको दुनियावी झंझटों से क्या मतलब। वस्तुतः जिन्हें दुनियावी झंझट कहा जाता था उन्होंने साहित्य के मैदान में कसकर अपना खूंटा गाड़ दिया है। भाषा और साहित्य के प्रश्न पर इतने मत-मतान्तर उत्पन्न हुए हैं कि हम लोगोंने हिन्दी के जिस भविष्य की मनोहर कल्पना की थी, वह भहराता नज़र आता है। घड़ा कुम्हार के चाक पर टूट जायगा, ऐसी आशंका हो रही है। उपाय क्या है ?

२

आसमान में मुक्का मारना कोई बुद्धिमानी का काम नहीं माना जाता। बिना लक्ष्य के तर्क करना भी बुद्धिमानी नहीं है। हमें भलीभांति समझ लेने की आवश्यकता है कि हमारा लक्ष्य क्या है। हम जो कुछ प्रयत्न करने जा रहे हैं वह किसके लिये है। साहित्य हम किसके लिये

रचते हैं, इतिहास और दर्शन क्यों लिखते और पढ़ते हैं राजनीतिक आन्दोलन किस महान् उद्देश्य की सिद्धि के लिये करते हैं ? मेरा अपना विचार यह है कि मनुष्य ही वह बड़ी चीज़ है जिसके लिये हम यह सब किया करते हैं। हमारे सब प्रयत्नों का एक ही लक्ष्य है : मनुष्य वर्तमान दुर्गति के पंक से उद्धार पावे और भविष्य में सुख और शान्ति से रह सके। साहित्य की सबसे बड़ी समस्या मानव जीवन है। कभी कभी इस प्रकार बात की जाती है मानों साहित्य की रचना दूस अन्य भले कामों की अपेक्षा कुछ भिन्न वस्तु है। वस्तुतः अगर साहित्य की रचना कोई भला काम है तो दूस अन्य भले कामों के समान ही उसका लक्ष्य भी मनुष्य जीवन को सुखी बनाना है। वह शास्त्र, वह रसग्रन्थ, वह कला, वह नृत्य, वह राजनीति, वह समाज-सुधार और वह पूजापार्वण जंजालमात्र हैं जिनसे मनुष्य का भला न होता हो। मनुष्य आज हाहाकार के भीतर निरन्न-निर्वस्त्र बना हुआ त्राहि त्राहि पुकार रहा है। उसे अन्न और वस्त्र जुटाना अच्छा काम है। हमारे राजनीतिक और सामाजिक सुधारों और क्रान्तियों से इस अन्न-वस्त्र की समस्या सुलझ जा सकती है। फिर भी मनुष्य सुखी नहीं बनेगा। उसे सिर्फ़ अन्न और वस्त्र ही से सन्तोष नहीं होगा। वह उन अत्यन्त मोटे प्रयोजनों की पूर्ति पहले चाहता है जो उसकी आहार-निद्रा आदि पशु-सामान्य क्षुधाओं के निवर्तक हैं। इसके बाद भी उसका मनुष्य बनना बाक़ी रह जाता है। साहित्य वही काम करता है; साहित्य का यही काम है। जो साहित्य मनुष्य को उसके पशु-सुलभ सतह से ऊपर नहीं उठाता, वह 'साहित्य' की संज्ञा ही खो देता है। मनुष्य को हर तरह से उन्नत बनाना, उसे अज्ञान मोह कुसंस्कार और परमुखापेक्षिता के दलदल से निकालना, और पशु-सामान्य धरातल से ऊपर उठाकर उसे प्राणिमात्र के दुःख-सुख के प्रति संवेदनशील बनाना ही साहित्य-रचना का लक्ष्य हो सकता है। दुनिया का कोई भी भला काम इसी लक्ष्य के लिये किया जाता है। शास्त्र इसी के लिये बने हैं, नियम-क़ानून इसी लक्ष्य की पूर्ति में सहायक होने पर ही

सार्थक होते हैं, मनुष्य की तर्कपरायण बुद्धि इसी उद्देश्य के लिये काम आकर कृतार्थ होती है। शास्त्रकार ने इसीलिये कहा है — न मानुषात्परतरं किंचिद्स्तीह भूतले — मनुष्य से बढ़कर इस दुनिया में और कुछ भी नहीं है!

इसी मनुष्य के सुख-दुःख का विचार करके हमें अपनी भाषा-विषयक नीति स्थिर करनी चाहिए। इसी मनुष्य को दृष्टि में रखकर हमें अपनी साहित्यिक समस्याओं का समाधान खोजना चाहिए। यह अत्यन्त स्वाभाविक है कि विचार करते समय हमारी रुचि, हमारे संस्कार या हमारा विक्षोभ हमें अभिभूत कर दे। मैं भोजपुरी बोलता हूँ। भोजपुरी में जितनी शक्ति और सहज स्वभाव मैं देख पाता हूँ उतनी अवधी या बुन्देलखंडी में नहीं देख पाता। यह व्यक्तिगत मत है क्योंकि इसमें मेरी रुचि और संस्कार के सिवा कोई बड़ा तर्क मेरे पास नहीं है। परन्तु यदि मैं इस रुचि और संस्कार को कुछ अधिक ढील दूं तो मैं तर्क से भी साबित कर सकता हूँ कि भोजपुरी ही इस देश की सबसे शक्तिशाली भाषा है। मैं इतिहास से इस विषय की गवाही ढूंढ़ सकता हूँ। भारतवर्ष का ज्ञात इतिहास भोजपुरियों से आरम्भ होता है। जिन सैनिकों के नाममात्र से सम्राट सिकंदर कांप उठे थे, वे भोजपुरी थे। जिन भिक्षुओं ने पर्वत और समुद्र लांघकर चीन से लेकर जापान तक भारतीय संस्कृति की पताका फहराई थी, वे अधिकांश भोजपुरी थे। चंद्रगुप्त और कुमारजीव भोजपुर की सन्तान थे और मध्ययुग का सबसे बड़ा फक्कड़ और सबसे बड़ा प्राणवान् महापुरुष भोजपुरी था:— मेरा मतलब कबीर से है। मेरा तर्क इससे भी आगे बढ़ सकता है। पालि इसलिये प्राणवान् है कि उसमें भोजपुरी प्रतिभा का स्पर्श है और कबीर इसलिये मस्तमौला है कि उसने भोजपुरी का आश्रय लिया था। मैं कह सकता हूँ कि हिन्दी के समूचे क्षेत्र में एक भी उपभाषा इतनी शानदार और जानदार नहीं है। परन्तु यह तर्क उचित नहीं है। राजस्थानी या मैथिली भाषा के पक्षपाती भी ऐसे ही तर्क उपस्थित

करते हैं या कर सकते हैं। प्रश्न यह नहीं है कि भोजपुरी का पुराना इतिहास क्या है या चंद्रगुप्त भोजपुरी थे या नहीं; प्रश्न यह है कि आज यदि भोजपरी को विश्वविद्यालयों की शिक्षा का माध्यम बनाया जाय, वह अदालतों की भाषा बना दी जाय (अर्थात् बनारस में कोई ऐसा हाईकोर्ट स्थापित किया जाय जहां के जजलोग भोजपुरी में निर्णय लिखें), विदेशी विनिमय की भाषा करार दे दी जाय तो भोजपुरी बोलनेवालों और अन्यान्य ऐसी ही बोली बोलनेवालों का कोई लाभ होगा या नहीं ? मेरा तो होगा, मेरे गांव-जवारवालों का भी होगा— परन्तु यहीं तक दुनिया समाप्त नहीं हो जाती। हम इस प्रश्न को ज़रा और दूर तक सोचें। यदि हमारे तर्कों और युक्तियों के मूल में कोई संकीर्ण स्वार्थ है या व्यक्तिगत रुचि-अरुचि का प्राबल्य है तो निष्कर्ष दोषयुक्त होगा।

हिंदी केन्द्रीय भाषा है। बड़े परिश्रम से और बड़ी कठिनाइयों के भीतर से इसके उपासकों ने इसे सार्वदेशिक भाषा का रूप दिया है। इसे किसी केन्द्रीय राजशक्ति की अंगुली पकड़ाकर आगे नहीं बढ़ाया गया है। विरोधों, आघात-प्रत्याघातों के भीतर से ही इसकी शानदार सवारी निकली है। आज यह भारतवर्ष की सबसे ज़बर्दस्त भाषा हो गई है। सो भी कितने दिनों में ? डा० ताराचन्द ने 'विश्ववाणी' की अक्टूबरवाली संख्या में बताया है कि 'भाषा यानी अदब की ज़बान की हैसियत से उन्नीसवीं सदी से पहले इसका नाम और निशान भी नहीं था !' सौ-सवा-सौ साल में इतनी शक्ति अर्जन करने का रहस्य क्या है ? क्या कारण है कि देखते-देखते इसकी धारा में सारा हिंदुस्तान बह गया— मानों कोई विराट शक्तिशाली पातालतोड़ कुआं एकाएक फूट पड़ा हो। निश्चय ही सारा जनसमुदाय इसे ग्रहण करने के लिये व्याकुल बैठा था। उसने अपने आपकी अपराजेय शक्ति से यह प्रभाव विस्तार किया है। इस केन्द्रीय भाषा की लपेट में लगभग समूचा उत्तर भारत आ गया है। केन्द्र से दूर-दूर के प्रदेश भी इस केन्द्रीय भाषा को शिष्ट व्यवहार और

साहित्यिक तथा अन्यान्य सार्वजनिक कार्यों की भाषा मानने लगे हैं। यह स्वाभाविक ही है कि केन्द्र से दूर रहनेवाले प्रदेशों की बोलियां केन्द्र के नज़दीक रहनेवाले प्रदेशों की बोलियों की अपेक्षा इस सार्वदेशिक भाषा से अधिक दूरत्व अनुभव करें। मैं जिस प्रादेशिक बोली को बोलता हूँ वह केन्द्र से बहुत दूर पड़ती है। पूरबी छोर पर मगही और मैथिली को छोड़कर और कोई उपभाषा ऐसी नहीं है जो भोजपुरी से अधिक दूर पड़ती हो। मैंने लक्ष्य किया है कि इन तीनों बोलियों के क्षेत्र में केन्द्रीय भाषा थोड़ी-बहुत ग़लत बोली जाती है। बहुत पढ़े लिखे लोगों में भी कभी–कभी भाषा सम्बन्धी अशुद्धियां सुनने को मिल जाती हैं। इन बोलियों में 'ने' का प्रयोग नहीं है; विभक्तियां केन्द्रीय भाषा की कई विभक्तियों से भिन्न हैं और कई सर्वनाम भी एकदम अलग हैं। इन प्रदेशों की स्वाभाविक भाषा ही यदि यहां के बालकों और अशिक्षित प्रौढ़ों को सिखाने की भाषा हो तो वे आसानी से शिक्षित बनाये जा सकते हैं। इन स्थानों में शायद ही कोई शिक्षक केन्द्रीय भाषा की सहायता से शिशुओं को पढ़ाता हो और यद्यपि प्रौढ़ों की शिक्षा के लिये केन्द्रीय भाषा के माध्यम का सहारा लिया गया है, पर मैं व्यक्तिगत अनुभव के बल पर कह सकता हूँ कि यदि स्थानीय भाषा का सहारा लेकर काम शुरू किया जाय तो प्रौढ़-शिक्षण का काम तेज़ी से आगे बढ़ सकता है। अर्थात् जहां तक इन प्रदेशों के शिशुओं की तथा अनपढ़ प्रौढ़ों की शिक्षा का प्रश्न है, वहाँ तक प्रादेशिक बोलियों का सहारा लेना अत्यन्त आवश्यक है। पर ज्योंही शिशुओं की शिक्षा पूर्ण हुई और उन्हें बृहत्तर जीवन में आना पड़ा, त्योंही बोलियों का सहारा उनके विकास में बाधक सिद्ध होने लगेगा। आख़िर इस ग़रीब देश में आप कितने विश्वविद्यालय और कितने हाईकोर्ट चलाएँगे? एक-एक ज़िले का दावा अलग–अलग हो सकता है। ग्रियर्सन ने जिन लोगों की भाषा को 'स्टैन्डर्ड' भोजपुरी कहा है, वे लोग बनारसवाले हाइकोर्ट की भाषा क्यों मानेंगे और बनारसवाले ही अपनी संपूर्ण

ऐतिहासिक परंपरा के बावजूद बलिया-आरा की बोली को क्यों 'स्टैण्डर्ड' मानेंगे? झगड़ा तो वहां भी खड़ा होगा। जब कहीं न कहीं समझौता करना ही है तो इस समय दीर्घ प्रयत्न के बाद जो शक्तिशाली केन्द्रीय भाषा बनी है उसीका सहारा क्यों न लिया जाय? जो हो, हम आगे चलकर देखेंगे कि आर्य भाषा बोलनेवालों में अपनी-अपनी बोलियों के प्रति प्रबल अनुराग का भाव कोई नई बात नहीं है। 'लिंग्विस्टिक सर्वे' ने इस तथ्य को भली-भांति सिद्ध कर दिया है।

कुछ इस प्रकार का तर्क भी उठाया गया है कि साहित्य की भाषा वह होनी चाहिए जिसका मनुष्य बिना प्रयत्न किए ही शुद्ध-शुद्ध प्रयोग कर सके, वह नहीं जिसमें उसे थोड़ा प्रयत्न करना पड़े। किन्तु मनुष्य अपनी अप्रयत्न-सिद्ध अवस्था में रहनेवाला प्राणी नहीं है। उसने जो सभ्यता और संस्कृति बनाई है वह प्रयत्नपूर्वक परिश्रम करके ही। अगर वह अपनी स्वाभाविक अवस्था में ही रहता तो पशु-सामान्य धरातल से ऊपर नहीं उठता। आहार-निद्रा आदि प्राकृतिक प्रयोजनों से वह जो ऊपर उठ सका है उसका प्रधान कारण प्रयत्न ही रहा है। यह और बात है कि प्रयत्न की दिशा सब समय सही नहीं रही है; और लुढ़कते-पुढ़कते वह एक ऐसी अवस्था में आ गया है जो उसकी उन्नति के अनुकूल तो है ही नहीं, उसे वर्तमान अवस्था में भी शान्ति नहीं पाने देती। दुनिया भर के दीर्घदर्शी मनीषियों ने इस अवस्था का कारण-विश्लेषण किया है। मनुष्य में संकीर्ण स्वार्थों और अंध प्रतियोगिताओं के बाहुल्य से ही यह अवस्था उत्पन्न हुई है। संसार के औसत मनुष्य अपनी बनाई हुई व्यवस्था की बेड़ियों से बुरी तरह जकड़ गए हैं। फिर एकबार क्रान्तदर्शियों ने सावधान किया है। वे कहते हैं, प्रयत्नपूर्वक इस व्यवस्था को जड़मूल से बदल दो; कुछ भी ऊलजलूल तरीक़े से नहीं होना चाहिए। प्रत्येक वस्तु के उत्पादन की योजना होनी चाहिए, वितरण की योजना होनी चाहिए, व्यवहार की मर्यादा होनी चाहिए। वर्तमान महायुद्ध

ने नितान्त अंध लोगों को भी यह अनुभव करा दिया है कि बिना योजना के उत्पादन, वितरण और व्यवहार का चलते रहना महानाश को निमंत्रण देना है। परंतु योजना किसके लिये ? मैं कहता हूँ, मनुष्य की सुख-शान्ति के लिये, भविष्य की सुरक्षा के लिये और अशिक्षा, कुशिक्षा, दरिद्रता, कुसंस्कार और परमुखापेक्षिता के नाम और निशान मिटा देने के लिये। अब भी दुनिया के शक्तिशाली समझे जानेवाले लोग इस बात को नहीं समझ सके; वे सस्ती-महंगी के नियंत्रण की योजना बना रहे हैं। पर यह ग़लती पकड़ी जाएगी। मनुष्य को चरमलक्ष्य न मानने का कुफल सौ बार भोगना पड़ा है—इस बार भी भोगना पड़ेगा। भाषा के मामले में भी हमें सावधानी से काम लेना है। हम भाषाओं की एक लस्टम-पस्टम रेलपेल न खड़ी कर दें जो भविष्य में हमारी सभी योजनाओं के लिये घातक साबित हो। भाषा भी हमारे भावी महालक्ष्य की पूर्ति का साधन है। हमें ऐसी भाषा बनानी है जिसके द्वारा हम अधिक से अधिक व्यक्तियों को शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक क्षुधा-निवृत्ति का संदेश दे सकें। हम मानें या न मानें, दुनिया बुरी तरह से छोटी होती जा रही है। आँख मूँद लेने से ही अंधेरा नहीं हो जाता। आपको अगर इस बुरी तरह धन-जन-बहुल होनेवाली पृथ्वी में मनुष्य के साथ संबंध बनाए रखना है, तो ऐसी भाषा सीखनी ही पड़ेगी जिसे अधिक से अधिक लोग समझते हों, नहीं तो आप विज्ञान और दर्शन की नवीन शोधों को जान भी न सकेंगे और इन नये आविष्कारों और नये दार्शनिक सिद्धान्तों के आधार पर बनी हुई व्यवस्था आपकी गर्दन पर सवार हो जाएगी। प्रयत्न आपको करना ही पड़ेगा। प्रयत्न मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है।

एक तरह के लोग हैं जो इस प्रकार का तर्क भी उपस्थित करते हैं कि यदि हमें मेहनत करके ही भाषा सीखनी है तो अंग्रेज़ी ही क्यों न सीखें ? अंग्रेज़ी सीखकर आदमी एक अत्यन्त समृद्ध भाषा को जान जाता है और उसे एक बहुत बड़े ज्ञान-भाण्डार की कुञ्जी मिल

जाती है। यह बात हल्की नहीं है। जिस दिन हिंदी बहुत समृद्धिशाली हो गई रहेगी, उस दिन भी अपने देशवासियों को अंग्रेज़ी भाषा सीखनी पड़ेगी। परन्तु यह निश्चित है कि देश के देश को प्रयत्न कराके अंग्रेज़ी का जानकार बना सकना असंभव है। कुछ थोड़े से लोग ही इस भाषा में विशेषज्ञता-उपार्जन के लिये छोड़े जा सकते हैं। हम जब कहते हैं कि प्रयत्न करना मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है तो हमारा मतलब यह होता है कि वही प्रयत्न वस्तुतः प्रयत्न है, जिससे मनुष्य को सुख-शान्ति की प्राप्ति हो। इस देश में शताधिक भाषाओं के प्रचलन से हमारे अनेक प्रयत्न विच्छिन्न और अकारथ हो जाएँगे। हमें एक ऐसी भाषा का आश्रय लेना है जो इन बोलियों से समता रखती हो और थोड़े प्रयत्न में बृहत्तर कल्याण-साधन की योग्यता से संपन्न हो। जिस प्रयत्न में परिश्रम अधिक हो और कल्याण की मात्रा कम हो वह वांछनीय नहीं है, क्योंकि मनुष्य का कल्याण ही हमारा परम लक्ष्य है। यदि किसी दिन यही सत्य लगे कि अंग्रेज़ी सीखने से हिंदी सीखने की अपेक्षा कम परिश्रम और ज़्यादा कल्याण है, तो निःसंकोच हमें अंग्रेज़ी को ही अपना लेना चाहिए। परन्तु यह बात कभी भी साबित नहीं होगी। कितना बड़ा भी तार्किक यह साबित नहीं कर सकता कि माता के दूध से बढ़कर कल्याणकारक वस्तु जगत् में दूसरी भी है। जिसे हम अब तक केन्द्रीय भाषा कहते आए हैं, उसे भी वस्तुतः ऐसा हो जाना पड़ेगा कि विक्षिप्त बोलियों के बोलनेवाले उसे अपनी भाषा समझ सकें। वस्तुतः ऐसा स्वयमेव हो गया है। कलकत्ते के बाज़ार में हिंदी एक तरह की बन गई है, पटने के दफ़्तरों में दूसरे तरह की; और राजपूताने में भी उसे निश्चय ही अपना रूप बदला होगा। मनुष्य समस्त इतिहास, पुराणों और व्याकरण-न्यायों से बड़ा और शक्तिशाली है। वह अपना रास्ता स्वयं बना लेता है। दिल्ली और मेरठ की बोली का ढांचा साहित्य में भी बदला है, और प्रदेशों में तो बदला ही है। संक्षेप में हम ऊपर

के वक्तव्य को इस प्रकार रख सकते हैं : (१) शिशुओं और अनपढ़ प्रौढ़ों की शिक्षा का माध्यम स्थानीय बोलियाँ होनी चाहिएँ, पर इस बात का प्रयत्न सदा होना चाहिए कि वे लोग यथाशीघ्र केन्द्रीय भाषा सीख जाएँ; (२) उच्चतर शिक्षा और साहित्य का माध्यम केन्द्रीय भाषा को ही होना चाहिए और इस बात का सदा प्रयत्न होना चाहिए कि केन्द्रीय भाषा बोलियों से दूर न पड़ने पावे। इन पंक्तियों के लेखक का विश्वास है कि ऐसा होने से मनुष्य का कल्याण होगा।

३

लेकिन कठिनाई अब भी रह जाती है। यह समझना भूल है कि लोगों को पढ़ना-लिखना सिखा देने मात्र से मनुष्य का कल्याण हो जायगा। असली बात यह है कि उन्हें पढ़ाया क्या जायगा, उनको वस्तुओं के याथार्थ्य को समझाने के लिये कौन-सी दृष्टि देनी होगी। जैसा कि शुरू में ही कहा गया है, मनुष्य अपने प्रयत्नों के फल से ही इस अवस्था तक आया है। उसके शरीर मन और बुद्धि, नाना प्रकार के प्रयत्नों की सफलता के भीतर से विकसित हुए हैं। एक देश के रहनेवाले दूसरे देश के रहनेवालों से इसीलिये भिन्न हो जाते हैं। यही भेदक वस्तु उस जाति का इतिहास है। भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में से गुज़रकर बड़ी होने के कारण जातियों की मानसिक और बौद्धिक संवेदनशीलता भी अलग अलग हो जाती है। जिस प्रकार मनुष्य के बाह्य सौविध्यों को दृष्टि में रखकर भारतवर्ष के लिये एक प्रकार के घर आवश्यक हैं और केमस्कटका के लिये दूसरे प्रकार के, हालैण्ड के लिये एक प्रकार की पोशाक आवश्यक है और फिज़ी के लिये दूसरे प्रकार की, उसी प्रकार भिन्न भिन्न देशों की मानसिक सुख-शान्ति के लिये भी अलग अलग प्रकार की व्यवस्था ज़रूरी है। इस व्यवस्था के लिये बहुत कुछ जानने की आवश्यकता है। किसी देश का धर्म, आचार-परंपरा, वंश-वैशिष्ट्य, वर्ग-मनोविज्ञान, आदि आवश्यक हैं। भारतवर्ष में राम और सीता का नाममात्र ही आदर्श के उद्‌बोधन के

लिये पर्याप्त है, पर अन्य देशों के लिये ये नाम नाम-मात्र ही हैं। परन्तु इन सब भेदों के होते हुए भी ऊपरी सतह के नीचे मनुष्य सर्वत्र एक है। मनुष्य की सुखशान्ति की स्थायिता के लिये हमें जहाँ मनुष्य के ऊपरी भेद-विभेदों और ऐतिहासिक विकासों को ध्यान में रखना आवश्यक है, उसी प्रकार और शायद उससे भी अधिक यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि मनुष्य सर्वत्र एक है। अपने देश की भाषा और साहित्य-विषयक नीति स्थिर करते समय हमें अपने देश के विशाल इतिहास को याद रखना होगा। नाना कारणों से इस देश में और बाहर यह बार-बार विज्ञापित किया जाता है कि इस महादेश में सैकड़ों भाषाएँ प्रचलित हैं और इसलिये इसमें अखण्डता या एकता की कल्पना नहीं की जा सकती। मैंने विदेशी भाषाओं के जानकारों और विदेश के नाना देशों में भ्रमण कर चुकनेवाले कई विद्वानों से सुना है कि तथाकथित एक राष्ट्र व स्वाधीन देशों में भी दर्जनों भाषाएँ हैं और भारतवर्ष की भाषा-समस्या उनकी तुलना में नगण्य है। परन्तु अन्य देशों में यह अवस्था हो या नहीं, इससे हमारी समस्या का समाधान तो नहीं हो जाता। दूसरों की आँख में ख़राबी सिद्ध कर देने से हमारी आँख में दृष्टि-शक्ति नहीं आ जाएगी। भाषागत विभेद इस देश में सचमुच ही है; पर हमारे इस देश ने हजारों वर्ष पहले भाषा की समस्या हल भी तो कर ली थी। हिमालय से सेतुबन्ध तक, सारे भारतवर्ष के धर्म, दर्शन, विज्ञान, चिकित्सा आदि विषयों की भाषा कुछ सौ वर्ष पहले तक एक ही रही है। यह भाषा संस्कृत थी। भारतवर्ष का जो कुछ श्रेष्ठ है, जो कुछ उत्तम है, जो कुछ रक्षणीय है, वह इस भाषा के भाण्डार में संचित किया गया है। जितनी दूर तक इतिहास हमें ठेलकर पीछे ले जा सकता है उतनी दूर तक इस भाषा के सिवा हमारा और कोई सहारा नहीं। इस भाषा में साहित्य की रचना कम से कम छः हजार वर्षों से निरन्तर होती आ रही है। इसके लक्षाधिक ग्रन्थों के पठन-पाठन और चिन्तन में भारतवर्ष के हज़ारों

पुश्त तक के करोड़ों सर्वोत्तम मस्तिष्क दिन रात लगे रहे हैं और आज भी लगे हुए हैं। मैं नहीं जानता कि संसार के किसी देश में इतने काल तक, इतनी दूर तक व्याप्त, इतने उत्तम मस्तिष्कों में विचरण करनेवाली कोई भाषा है या नहीं। शायद नहीं है।

संस्कृत के विषय में इधर कुछ ग़लत ढङ्ग की बातें कही जाने लगी हैं। नामी विद्वानों तक ने बिना संकोच के इन बातों को दुहराना शुरू किया है। अभी हाल ही में मैं डाक्टर ताराचन्द्-जैसे प्रामाणिक विद्वान के लेख में यह पढ़कर आश्चर्य चकित रह गया कि "आज संस्कृत का सम्मान इसलिये है कि वह हिंदू सम्प्रदाय में देववाणी समझी जाती है। इस भाषा में इस ख़ास सम्प्रदाय की पूज्य पुस्तकें हैं।" सत्य का इससे बढ़कर अपप्रयोग नहीं हो सकता। संस्कृत का सम्मान आज इसलिये नहीं है कि वह किसी खास धर्म-संप्रदाय की देवबानी है। संस्कृत वह भाषा है जिसमें भारतवर्ष की साधना का सर्वोत्तम—उसका धर्म और दर्शन, ज्योतिष और चिकित्सा, अध्यात्म और विज्ञान, राजनीति और व्यवहार, व्याकरण और शिक्षाशास्त्र, तर्क और भक्ति—प्रकट हुए हैं। इस भाषा के दर्शन और अध्यात्म ग्रन्थों ने सारे संसार को प्रभावित किया है, ज्योतिष और चिकित्सा ने ईरान और अरब के माध्यम से समूचे सभ्य जगत् को आलोक दिया है। कथा और आख्यायिकाओं ने आधुनिक जगत् को आन्दोलित किया है। विंटरनित्स ने लिखा है कि 'लिटरेचर (साहित्य) शब्द अपने व्यापक अर्थ में जो कुछ भी सूचित कर सकता है, वह सभी संस्कृत में वर्तमान है। धार्मिक और ऐहिकता-परक (सेक्यूलर) रचनाएं, महाकाव्य, लिरिक, नाटक, नीतिविषयक कविताएं, वर्णनात्मक अलंकृत और वैज्ञानिक गद्य —सब कुछ इसमें भरा पड़ा है।' क्या सचमुच कालिदास की शकुन्तला और अश्वघोष के बुद्धचरित का सम्मान इसीलिये है कि वे एक ख़ास सम्प्रदाय की धर्म-भाषा में लिखे गए हैं? क्या डायसन ने जब प्लेटो और कान्ट के साथ संसार के महामति दार्शनिकों में शङ्कर का नाम

लिया था तो यही सोचकर कि शङ्कर ने एक 'ख़ास धर्म सम्प्रदाय की देवबानी' में अपनी पोथी लिखी है ? ब्रह्मगुप्त और आर्यभट्ट के ज्योतिष-ग्रन्थों का अरबों ने इसीलिये अरबी में अनुवाद किया था कि वे ग्रन्थ किसी सम्प्रदाय विशेष की धर्म-भाषा में लिखे गए थे ? नहीं; संस्कृत का आज इस देश में इसलिये सम्मान नहीं है कि वह एक 'ख़ास धर्म-सम्प्रदाय की देवबानी' है। यह बात ग़लत है। यह जल्दी में निर्णय करके कही हुई बात है। संस्कृत भारतीय मस्तिष्क के सर्वोत्तम को प्रकाशित करनेवाली अतुलनीय भाषा है। भारतवर्ष जब कभी गर्व से सिर ऊपर उठाएगा तो वह इसलिये कि उसके पूर्वजों ने ज्ञान का भाण्डार इस भाषा में रख छोड़ा है। दुनिया की दूसरी कोई भी प्राचीन भाषा इतनी समृद्ध नहीं है। इस भाषा को ठीक-ठीक समझे बिना और उसका आश्रय लिए बिना भारतवर्ष की आत्मा दृप्त नहीं हो सकती। संस्कृत के लिये प्रेम होना साम्प्रदायिकता का लक्षण नहीं है। इस देश के अधिकांश मुसलमानों और ईसाईयों के पूर्वज भी संस्कृत के ज्ञान-भाण्डार के संग्राहक रहे हैं। आज किसी कारणवश मुसलमान या ईसाई यदि इस सत्य को स्वीकार नहीं करते तो हमें क्षुब्ध होने की ज़रूरत नहीं। समय आएगा जब वे सचाई को मानेंगे और विशाल और महान् संस्कृत-साहित्य के लिये उसी प्रकार गर्व अनुभव करेंगे जिस प्रकार इन पंक्तियों का लेखक कर रहा है। हमारी भाषा पर, हमारे विचारों पर और हमारे साहित्य पर संस्कृत के उत्कृष्ट साहित्य का प्रभाव पड़ना कोई लज्जा की बात नहीं है, नहीं पड़ना ज़रूर लज्जा की बात है। देश का एक खीझा जन-समूह यदि उचित बात से नाराज़ होता है तो हमें धैर्य से काम लेना होगा। यह हो नहीं सकता कि जिस भाषा के साहित्य, दर्शन और अध्यात्म से सातसमुद्रपार के लोग प्रभावित हो रहे हैं, उसके प्रति अपने देश का ही एक बड़ा समुदाय उदासीन रहे। आज नहीं तो कल वे इस बात की सचाई स्वीकार

करेंगे ही। तब तक हमें अपनी बात के औचित्य को सचाई के साथ सिद्ध करते रहना होगा।

पर संस्कृत-साहित्य ही हमारे पूर्वजों का एकमात्र संचित ज्ञान-भाण्डार नहीं है, यद्यपि यह बहुत गौरवपूर्ण और अन्यान्य भाण्डारों की तुलना में बहुत विशाल है। सन् १८४० में एलफ़िंस्टन नामक यूरोपियन पंडित ने हिसाब लगाकर देखा था कि संस्कृत साहित्य में जितने ग्रन्थ विद्यमान हैं उनकी संख्या ग्रीक और लैटिन में लिखे ग्रन्थों की सम्मिलित संख्या से कहीं अधिक है। मगर उस समय तक बहुत कम ग्रन्थ पाए गए थे। इसका अनुमान इसीसे किया जा सकता है कि १८३० ई० में फ्रेडरिक जैसे साहित्यान्वेषी को केवल साढे तीन सौ संस्कृत ग्रन्थों का पता था और बाद में सन् १८५२ में वेबर ने अपने संस्कृत साहित्य के इतिहास में जिन ग्रन्थों की चर्चा की, उनकी संख्या पांच-सौ के आसपास थी। बाद में वेबर की संगृहीत पुस्तकों की संख्या सोलह--सौ हो गई थी और सन् १९१६ में म. म. हरप्रसाद शास्त्री ने चालीस हज़ार ग्रन्थों की चर्चा की। इनकी संख्या अब आधे लाख से कहीं अधिक हो गई है और फिर भी आज तिब्बत और नेपाल से, तो कल केरल या मलाबार से नई नई पुस्तकें प्राप्त होती ही रहती हैं। इस विराट् साहित्य के अतिरिक्त देश में पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, फ़ारसी, आधुनिक भाषाओं और अंग्रेज़ी के ग्रंथ भी हैं, जिनकी संख्या जितनी ही विशाल है सामग्री उतनी ही ठोस भी। ये सब ग्रन्थ इस देश के निवासियों की मनःस्थिति और बौद्धिक विकास के निदर्शक हैं। इन सबमें भारतीय मनीषा ने अपने को नाना भाव से अभिव्यक्त किया है। हमारी भाषा पर, हमारे साहित्य पर और हमारी विचार-पद्धति पर निश्चय ही इस समूचे वाङ्मय का प्रभाव पड़ेगा। यह भी परम स्वाभाविक है कि जो समुदाय जिस विशेष शाखा के अध्ययन में अधिक आसक्त रहेगा, उसकी भाषा और भावों पर उस विशेष शाखा का ज्यादा प्रभाव पड़ेगा। जो समुदाय संस्कृत की अधिक चर्चा

करेगा उसपर संस्कृत का प्रभाव पड़ेगा, जो पालि–प्राकृत की चर्चा करेगा उसपर उनका असर होगा; जो फ़ारसी के साहित्य का अध्ययन करेगा उसपर फ़ारसी का असर पड़ेगा और जो अंग्रेज़ी का अध्ययन करेगा उसपर अंग्रेज़ी की छाप रहेगी। यह स्वाभाविक है। इससे चिन्तित होने की बात नहीं है। चिन्तित होने की बात तब उपस्थित होगी, जब प्रभाव इतना अधिक पड़ने लगे कि वे एक दूसरे की बोली ही न समझ सकें।

४

यह विचारणीय विषय है कि किस बात को दृष्टि में रखने से भाषा पर पड़ा हुआ असर इतना अधिक नहीं होगा कि एक ही भाषा बोलनेवाले एक दूसरे की बोली ही न समझें; यद्यपि अनुभव से यह सिद्ध है कि ऐसे मामलों में कोई ठंडे दिल से विचार नहीं करता और कोई किसीकी सलाह मानने को तैयार नहीं होता। अगर युक्ति और तर्क से यह सिद्ध भी हो जाय कि हिंदुस्तान का कोई जनसमुदाय अपनी भाषा पर विदेशी भाषा का प्रभाव न आने दे या यदि आने भी दे तो केवल भावों में, भाषा में नहीं; तो भी कोई सुनेगा नहीं। फिर भी यह बात विचारणीय अवश्य है, क्योंकि इससे हम मनुष्य को उसके सच्चे रूप में पहिचान सकेंगे। भाषा ही मनुष्य का सबसे बड़ा आकर्षण नहीं है, उससे बड़ा भी कोई आकर्षण है जिसके कारण मनुष्य भाषा को छोड़ देता है। देखा जाय, वह कारण क्या हो सकता है।

एक ज़माना था जब भाषाविज्ञान और नृतत्त्वशास्त्र की घनिष्ठ मैत्री में विश्वास किया जाता था। माना जाता था कि भाषा से नस्ल की पहचान होती है। परन्तु शीघ्र ही भ्रम टूट गया। देखा गया कि ये दोनों शास्त्र एक दूसरे के विरुद्ध गवाही देते हैं। भारतवर्ष भाषाविज्ञान और नृतत्त्वशास्त्र के कलह का सबसे बड़ा अखाड़ा साबित हुआ है। वर्तमान हिन्दू समाज में एक–दो नहीं, बल्कि दर्जनों

ऐसी जातियाँ हैं जो अपनी मूल भाषाएँ भूल चुकी हैं और आर्यभाषा बोलती हैं। आर्य होने की प्रवृत्ति इतनी तीव्र है कि कई जातियों ने अपनी मूल परंपराओं को नष्ट कर दिया है और कई अब भी नष्ट कर रही हैं। कुछ जातियों की मूल-भाषाओं का पता कठिनाई से लगता है। कुछ ऐसी हैं जिनमें परिवर्तन एक बार ही नहीं, कई बार हुआ है। नाना भाँति की ख़ानाबदोश जातियों की वर्तमान भाषाएँ आर्य जाति की ही हैं, परन्तु सर्वत्र यह अनुमान पुष्ट हुआ है कि मूलत: उनकी भाषा द्रविड़श्रेणी की थी। मध्यप्रदेश की नहाल जाति की मूल भाषा मुण्डा श्रेणी की थी। कुछ दिन पूर्व तक वह द्रविड़श्रेणी की भाषाओं के प्रभाव में रही, क्योंकि द्रविड़ भाषा (तेलुगु) बोलनेवाली उच्चतर जातियों से नहाल जाति प्रभावित रही; परन्तु आजकल वह तेज़ी से आर्य भाषा होने की ओर बढ़ रही है। आसाम की कई जातियों ने सौ वर्ष पहले गौड़ीय वैष्णव धर्म को अपनाया। उनकी भाषा तेज़ी से बदली है और अब तो उनका संबंध सीधे वेदों से क़ायम किया जाने लगा है। ब्राह्मण-प्रधान धर्म ने जातियों का कुछ इस प्रकार स्तरविभाग स्वीकार किया है कि निचलीश्रेणी की जाति हमेशा अवसर पाने पर ऊंचे स्तर में जाने का प्रयत्न करती है। इस देश में न जाने किस अनादिकाल से संस्कृत भाषा का प्राधान्य स्वीकार कर लिया गया है कि प्रत्येक नस्ल और फ़िर्क़े के लोग अपनी भाषा को संस्कृत श्रेणी की भाषा से बदलते रहे हैं। ग्रियर्सन ने अपने विशाल सर्वे में एक भी ऐसा मामला नहीं देखा जहाँ आर्यभाषा-संस्कृत श्रेणी की भाषा-बोलनेवाले किसी जनसमुदाय ने किसी भाषा से अपनी भाषा बदली हो। यहाँ तक कि आर्यभाषा की एक बोली को बोलनेवालों ने भी दूसरी बोली को स्वीकार नहीं किया है। सर्वे करनेवालों को ऐसे भूभाग बराबर मिलते रहे हैं जहां दो बड़ी भाषाओं की सीमाएं मिलती हैं और दो बोलियों के बोलनेवाले लोग एक ही गांव में बसे मिले हैं; पर उन्होंने

अपनी बोली नहीं बदली है । माल्दा ज़िले (बंगाल) के एक गांव में तीन बोलियों के बोलनेवाले थे, परन्तु तीनों ही अपनी-अपनी अलग बोली बोलते थे । आपसी व्यवहार के लिये इन लोगों ने एक सामान्य भाषा ज़रूर बना ली थी । यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि इस मामले का केवल एक ही अपवाद ग्रियर्सन को मिला है। इस्लाम ने उर्दू को दूर दूर तक पहुँचाया है । बंगाल और उड़ीसा में भी ऐसे मुसलमान मिले हैं जो अपने प्रदेश की भाषा के बदले उर्दू—यद्यपि ग़लत ढंग की—बोलते हैं ('लिंग्विस्टिक सर्वे आफ़ इण्डिया', जि० १, भाग १, पृ० २९-३०)। सो मज़हब वह सबसे बड़ा हेतु है जो भाषा को बदलवा देता है ।

भारतवर्ष में भाषा-संबंधी प्रश्न पर विचार करते समय इन विशेषताओं को ध्यान में रखना होगा । यहाँ इतिहास या भाषा-विज्ञान या नृतत्त्वशास्त्र की दुहाई देकर आप भाषा में परिवर्तन या सुधार की सलाह नहीं दे सकते । आप एक आसामी कोच को उसके विशुद्ध क्षत्रियत्व के दावे से नहीं हटा सकते, चाहे भाषाशास्त्र और नृतत्त्वशास्त्र आपका जितना भी साहाय्य करें । इसीप्रकार आप एक मुसलमान को अरबी-फ़ारसी के व्यवहार से नहीं रोक सकते, चाहे उसकी वंशावली दिखाकर आप यही क्यों न सिद्ध कर दें कि वह गायत्री-मंत्र के द्रष्टा विश्वामित्र का ही गोत्रज है ! मैंने इसी बार 'लोकयुद्ध' में पढ़ा है कि महात्मा गांधी ने जो मि० जिन्ना को यह लिख दिया कि अधिकांश मुसलमानों के पूर्वज हिन्दू थे, इस कथन से सभी उर्दू पत्र नाराज़ हुए हैं । यह तथ्य है । इसे हमें स्वीकार करना ही पड़ेगा कि भारतवर्ष में धर्म का आकर्षण सबसे ज़बर्दस्त है और जाति-व्यवस्था ने इस देश में एक ऐसी हीनता भर दी है कि अधिकांश जनसमुदाय अपने प्राचीन संस्कारों और परम्पराओं को धो डालने में बिलकुल नहीं हिचकते । हिन्दू भी नहीं, मुसलमान भी नहीं ।

यह स्पष्ट है कि किसी जाति की भाषा पर जब दूसरी जाति का प्रभाव पड़ता है तो इसका सबसे बड़ा कारण जातिगत और धर्मगत हीनता का भाव होता है। अपनेको हीन समझनेवाला जनसमुदाय उच्चतर समझी जानेवाली जाति की भाषा को स्वीकार कर लेता है। यह परिवर्तन शुरू-शुरू में शब्द-भाण्डार में होता है और क्रमशः भाषा का सारा ढांचा ही बदल जाता है।

४

अंग्रेज़ों के आगमन के साथ नवशिक्षित हिन्दुओं में इसी प्रकार का चलन शुरू हुआ था। बाप-बेटे तक में पत्र-व्यवहार अंग्रेज़ी में होता था। परन्तु देशी और विदेशी पंडितों के प्रयत्न से जब भारतीय ज्ञान-भाण्डार उद्घाटित हुआ, हज़ारों वर्ष पुरानी समृद्धिशाली सभ्यता का परिचय हुआ, तो अवस्था फिरने लगी। आर्यसमाज और ब्राह्मसमाज के जबर्दस्त आन्दोलनों ने हीनताग्रंथि को उखाड़ फेंकने का व्रत लिया और देखते-देखते संस्कृत के साहित्य और दर्शन, कला और विज्ञान, ज्योतिष और चिकित्सा का प्रभाव बढ़ने लगा। भारतवर्ष में आत्मचेतना का यह जो उदय हुआ, उसीने संस्कृतमयी भाषा का प्रचलन किया। संयोगवश वह आन्दोलन धार्मिक ढंग से चलाया गया और इस देश के मुसलमान उसे बराबर संदेह की दृष्टि से देखते रहे। जैसा कि पहले ही कहा गया है, किसी अज्ञात काल से ही संस्कृत का प्राधान्य स्थापित हुआ है। उसे दोष कहिए या गुण, भारतीय जनता की अनादिकाल से चली आती हुई मनोवृत्ति के अनुकूल होने के कारण ही संस्कृत-बहुल भाषा इतनी तेज़ी से बढ़ गई। इस बात को केवल ऊपर-ऊपर से देखने से बराबर ग़लत निष्कर्ष निकाले जाने की संभावना है। यह बात साम्प्रदायिक संकीर्णता की सूचक नहीं है, यह आत्माभिमान का—या सच कहिए तो आत्मस्वभाव का—निदर्शक है। यह प्रश्न इतिहास और भाषाशास्त्र की गवाहियों से सुलझने-वाला प्रश्न नहीं है। हिन्दुओं में संस्कृत के प्रति जो गहरी श्रद्धा है

वह स्वाभाविक भी है और संस्कृत के महान् साहित्य को देखते हुए उचित भी। भाषाशास्त्रीय सर्वे से एक दूसरी बात भी अत्यन्त स्पष्ट हुई है: अपनी-अपनी बोली के प्रति अत्यधिक प्रेम भी इस देश के लोगों का सनातन स्वभाव है। बोलियों का जो आन्दोलन उठा है वह कोई नवीन नहीं है। संस्कृत के प्रति श्रद्धा-भाव और अपनी-अपनी बोलियों के प्रति अनुराग-दोनों बातें बहुत पुरानी हैं। इसीलिये मैंने ऊपर कहा है कि केन्द्रीयभाषा को इन बोलियों के नज़दीक आना चाहिए। मेरे कहने का मतलब यह है कि केन्द्रीय भाषा में दूर दूर की बोलियों के काव्य, गान-मुहावरे, रीति-रस्म आदि का पर्याप्त अध्ययन होना चाहिए। जब तक प्रत्येक बोली का बोलने-वाला जनसमुदाय यह नहीं अनुभव करेगा कि केन्द्रीय भाषा उसकी बोली का पर्याप्त सम्मान करती है और उसकी अच्छी बातों से अपने को सम्पन्न करती है, तब तक केन्द्रीय भाषा के प्रति वास्तविक प्रेम जागरित नहीं होगा। और जबतक वास्तविक और भीतरी प्रेम जागरित नहीं होता, तबतक मनुष्य उसके संपूर्ण लाभ से वंचित रहेगा। लेकिन बोलियों के अध्ययन को प्रोत्साहित करने के प्रश्न में जो अनेक हेतु हैं, उनमें से यह केवल एक है। और भी कई कारण हैं, यहाँ इतना स्मरण करा दूँ कि ऊपर जो मैंने भाषा पर प्रभाव पड़ने का जातिगत और धर्मगत हीन-कारण भावना को बताया है, वह सबसे बड़ा कारण है, एकमात्र कारण नहीं। दो जातियाँ एक-दूसरे को समझने के लिये भी बहुत से शब्द स्वीकार करती हैं, परन्तु उस अवस्था में भाषा, परभाषा के शब्दों के भार से बोझिल नहीं हो उठती।

—['विश्वभारती पत्रिका', खंड ३, अङ्क ४]

९

'दादू'❀

आज से लगभग सौ वर्ष पहिले सन् १८३७ के जून के 'एशियाटिक सोसाइटी जर्नल' में मिस्टर जी० आर० सिडन्स ने संत-साधक दादू के कुछ पदों को अंग्रेज़ी अनुवाद के साथ प्रकाशित कराया था। इसके बाद से अब तक अंग्रेज़ी, हिन्दी, गुजराती आदि भाषाओं में दादू के सम्बन्ध में अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुईं। हिन्दी में महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी-जैसे पंडित ने भी दादू के सम्बन्ध में पुस्तक प्रकाशित की। अध्यापक क्षितिमोहन सेन की 'दादू' नामक बंगला पुस्तक इस सिलसिले में सबसे नई है—केवल समय की दृष्टि से ही नहीं, किन्तु विषय के निर्वाचन और निर्वचन, इन दोनों दृष्टियों से भी यह पुस्तक सर्वथा नवीनता लिए है।

जी० आर० सिडन्स के समय से लेकर अब तक जो पुस्तकें लिखी गई हैं, उन सबको दो श्रेणियों में रखा जा सकता है। कुछ ग्रन्थ, जो ज़्यादातर अंग्रेज़ी में हैं, शोधप्रिय पंडितों के प्रयत्न के फल हैं, और कुछ साम्प्रदायिक संग्रहों के रूप में छापे गए हैं। मध्ययुग के अधिकांश सन्त उस श्रेणी से आए थे जिन्हें हिन्दू-समाज में कोई स्थान प्राप्त नहीं हुआ था। इसका सुपरिणाम यह हुआ कि वे उन सभी शास्त्रगत संस्कारों से मुक्त थे जो मनुष्य के सहज-संबंध में प्राय: बाधक सिद्ध होते हैं। इसलिये इन साधकों को शास्त्रपन्थी विद्वानों की ओर से सदा तिरस्कार ही मिलता रहा। इन साधकों ने न तो किसी शास्त्र की परवा की और न शास्त्रपन्थी

❀ 'दादू'—लेखक, अध्यापक क्षितिमोहन सेन शास्त्री, एम० ए०, अध्यक्ष विद्या-भवन, विश्व-भारती, शान्तिनिकेतन; प्रकाशक, विश्व-भारती ग्रन्थालय, २, कालेज स्क्वेयर, कलकत्ता; पृष्ठसंख्या ७५; मूल्य ४) रुपया।

मर्मज्ञों की। यह आश्चर्य की बात है कि आज विद्वान् लोग इन्हीं शास्त्र-तिरस्कृत साधकों की वाणियों का एकेडेमिक उद्देश्यों से संग्रह करने लगे हैं। यह आश्चर्य की बात भले ही हो, पर न्याय की बात नहीं हो सकती। जिस चीज़ का एकेडेमी ने कभी आदर नहीं किया, जिसने एकेडेमी की कभी परवा नहीं की, वह चीज़ ही कुछ ऐसी है जिसे इस क्षेत्र में नहीं लाया जा सकता। क्षिति बाबू के शब्दों में यह प्रयत्न किसी गोल-गोल चीज़ को चौकोर पिटारे में भरने के समान है।

साम्प्रदायिक संग्रहों के बारे में भी अत्यन्त सावधानी से काम लेने की ज़रूरत है। यह मानी हुई बात है कि ये साधक किसी प्रकार की सम्प्रदाय-प्रतिष्ठा या जातिभेद के क़तई ख़िलाफ़ थे। हमारे देश और और सभ्यता के लिये यह परम दुर्भाग्य की बात समझी जानी चाहिए कि ऐसे साधकों के नाम से सम्प्रदाय, एक-दो नहीं, अनेक–अनेक सम्प्रदाय, चल खड़े हुए। अकेले कबीर के नाम पर लगभग दो दर्जन सम्प्रदाय हैं! कबीर के सुपुत्र साधक कमाल ने (जिन्हें अध्यापक सेन के अनुसार कबीरपन्थ की स्थापना करने के कारण ही कबीर का 'बूड़ा वंश' कहा गया है) इन साम्प्रदायिक संग्रहों के लिए एक विचारणीय बात कही है। उन्होंने साधकों की वाणियों को जलती हुई मशालों के समान कहा है। किन्तु साम्प्रदायिक संग्रह इन जलती हुई मशालों के बुझे हुए डंडों का संग्रह है। न इनमें वह तेज है और न वह आग।

अध्यापक सेन इस विषय में कमाल की बात के अक्षरशः अनुयायी हैं। उन्होंने कभी साम्प्रदायिक संग्रहों पर विश्वास किया ही नहीं। अपने जीवन के सर्वोत्तम चालीस वर्ष उन्होंने भारतवर्ष के ग्रामों की यात्रा में बिताये और जीवित साधकों के मुख से सुनकर यथासाध्य सन्त-वाणियों का संग्रह किया। 'दादू' की भूमिका पढ़ने से जान पड़ता है कि कितने परिश्रम और लगन से आपने सन्तों की वाणी का संग्रह किया है। उन्हें संग्रहीत ग्रन्थों से मिलाया है; पर सदा उन जीवित वाणियों को प्रथम स्थान दिया है। एकेडेमी के क्षेत्र में धुरन्धरों ने—विशेषकर ईसाई

पंडितों ने (जो न-जाने किस सदुद्देश्य से साम्प्रदायिक संग्रहों पर बेजा प्रसन्न रहते हैं)—इस बात के लिये अध्यापक क्षितिमोहन सेन को बुरा-भला कहा है। और सचमुच यह बात एकेडेमी के शास्त्रपन्थी विद्वान नहीं समझ सकते कि आज से सैकड़ों वर्ष पहले लिखी पुस्तकें क्यों न प्रमाण मानी जायँ। बहुतों को आश्चर्य होना स्वाभाविक भी है कि आधुनिक युग के आलोचनात्मक वैज्ञानिक नियमों की जानकारी रखनेवाला, एक रिसर्च इन्स्टीट्यूट का अध्यक्ष पुरानी पोथियों के प्रति निर्मोही क्यों है ? जो लोग इसका असल रहस्य जानना चाहते हैं, उन्हें 'दादू' को एक बार आद्योपान्त पढ़ना चाहिए। उन्हें मालूम हो जायगा कि कबीर और दादू के भाषा-विज्ञान और समय आदि को जानने के लिए पुरानी पोथियों का कैसा ही महत्व क्यों न हो, उनकी गम्भीर साधना का पता हमें जीवित साधकों के मुँह से प्राप्त की हुई वाणियों में ही मिलता है।

इस क्षेत्र में आधुनिक समीक्षा-पद्धति किस प्रकार व्यर्थ सिद्ध हो सकती है, इस बात का एक छोटा-सा उदाहरण लीजिए। ऐसा प्रायः देखने में आता है कि एक ही भजन सूरदास के नाम से भी चल रहा है, तुलसीदास का नाम भी उसपर जड़ दिया गया है; कबीर, दादू, मीरा, नानक सबका अपना-अपना नाम उसी भजन में बाकायदा पाया जाता है। वर्तमान समीक्षक उस पद के आदि कर्ता के अनुसन्धान में वृथा ही दिमाग़ी कसरत करता रहता है। एक बार वह इसे प्रक्षिप्त बताता है, फिर बाद में कुछ भक्तों की करतूत बताता है और इसी तरह न—जाने क्या—क्या अनुमान करता है।

कविवर रवीन्द्रनाथ ने कहा है कि जो सर्वश्रेष्ठ को खोजने जाता है, उसे बहुतसे अन्य श्रेष्ठों को छोड़ देना पड़ता है, और सबसे श्रेष्ठ का तो पता—ठिकाना ही क्या ! वर्तमान समीक्षक भी सबसे प्रथम कर्ता को खोजता हुआ अनेक साधकों को छोड़ देता है, और सबसे पहला कर्ता फिर भी अन्धकार में ही रह जाता है। असल बात यह है कि उस युग के सभी साधक कविता लिखने नहीं बैठते थे। वे अनुभव किया करते थे। मान

लिया जाय, कबीर ने एक सत्य का अनुभव किया; वे अपने नाम से उसे कह गये। दादू ने भी उसी सत्य का साक्षात्कार किया, और अपना नाम देकर उसपर अपनी भी साक्षी रख छोड़ी। पद किसका रचा है, इसकी उन्होंने परवा भी नहीं की। उन्होंने कभी इस बात का ख़याल भी नहीं किया कि भावी समीक्षक इस पद पर व्यर्थ में सिर खपाएगा। क्षिति बाबू ने इस तत्त्व को इसी तरह समझाया है। सुदूर पूर्व बंगाल और आसाम में गोरखनाथ के नाम से प्रचलित गान दादू के नाम पर पाए गए हैं।

'दादू' के आरम्भ में अध्यापक सेन ने लगभग दो सौ पृष्ठों की एक विस्तृत भूमिका लिखी है। इस विस्तृत भूमिका में दादू का विस्तृत जीवन, उनके शिष्य-प्रशिष्यों की परम्परा आदि के सम्बन्ध में विस्तृत विचार किया है। एक नई बात जो इस ग्रन्थ से सप्रमाण समर्थित हुई, यह है कि दादू का जन्म मुसलमान वंश में हुआ था और उनका पहला नाम दाऊद था। क्षिति बाबू ने बंगाल के 'बाउल' सन्तों की वाणियों में इस तथ्य को सर्वप्रथम पाया था। भूमिका में दादू की साधना के सम्बन्ध में अनेक दृष्टिकोणों से विचार किया गया है। उनका ऐतिहासिक मूल, क्रमविकास आदि बातें बहुत साफ़ भाषा में समझाई गई हैं। वेदों से भी पूर्वकाल की साधना से लेकर कबीर, दादू आदि मध्ययुग के सन्तों तक की साधनाओं पर विचार किया गया है। दादू की वाणियों के साथ पहले उनकी विशेषता समझाई गई है और बाद में उसका सुन्दर अनुवाद दिया गया है। इन सात-सौ पृष्ठों को पढ़ने पर मध्ययुग की साधना का कोई अंग अपरिचित नहीं रह जाता। सीमा और असीम, सहज और शून्य, अलख और निरंजन आदि बातें जो ग़लतफ़हमी के कारण दुर्बोध और कठिन समझी जाती हैं, अत्यन्त सहज और साफ़ हो उठती हैं। उन लोगों के लिये यह पुस्तक बहुत ही उपयोगी होगी जो क्षिति बाबू की तरह पुस्तकों की अपेक्षा सभ्य कही जानेवाली दुनिया के द्वारा उपेक्षित-किन्तु परम्परा से ज्ञानराशि को वहन करनेवाले- साधुओं की

वाणी को ज़्यादा महत्व देते हैं। इसकी भूमिका से उन्हें अनेकों साधुओं और गाँवों का पता लगेगा जहाँ ये रत्न पाये जा सकते हैं और जो नित्य की उपेक्षा के कारण नष्ट हो रहे हैं।

एक युग था, जब भारतीय समाज में एक सम्पूर्ण विपरीत प्रकृति की सभ्यता के आ जाने से नई-नई समस्याएँ खड़ी हो गई थीं। हिंदू-मुस्लिम संस्कृतियों के संघर्ष के समय इन महापुरुषों ने विशाल सामंजस्य का चिन्तन किया था। आज भारतीय समाज में पश्चिमी सभ्यता का एक और नया उपादान आ घुसा है। आज भी इन सन्तों की उज्ज्वल वाणियाँ हमें इस अन्धकार में प्रकाश दिखा सकती हैं। अध्यापक सेन ने उचित समय पर इन अमूल्य रत्नों को, उचित और उपयुक्त स्थान देकर प्रकाशित किया है। इस रूप में अध्यापक सेन के इस सत्प्रयत्न के लिए जितनी भी बधाई दी जाय, थोड़ी है। हम इस विषय में इसी प्रसंग पर लिखे हुए कवीन्द्र रवीन्द्र के वाक्यों से अधिक कुछ नहीं कह सकते।

"भारत के मरमी कवियों ने शास्त्रनिर्मित पत्थरों के बेड़े से भक्त के मन को मुक्ति दी थी। प्रेम के अश्रु-जल से देवमन्दिर के आंगन से रक्तपात की कलंक-रेखा को मिटा देना ही उनका काम था। जिनका आविर्भाव भीतर से आनन्द के आलोक द्वारा मनुष्य के सब भेदों को मिटा देता है, वे उसी राम के दूत थे। भारतीय इतिहास की निशीथ रात्रि में भेदका पिशाच जब विकट नृत्य कर रहा था, उस समय उन्होंने उस पिशाच की प्रधानता को स्वीकार नहीं किया। अंगरेज़ मरमी कवि ने जिस दृढ़ विश्वास के साथ कहा था, विश्वकी मर्माधिष्ठात्री देवी आनन्द लक्ष्मी ही मनुष्यको सब बन्धनों से मुक्ति देंगी, उसी प्रकार ये भी ठीक जानते थे कि जिसके आनन्द से वे अपनेको अहंकार के वेष्टन से बहा सके थे, उसीके आनन्द से मनुष्य की भेद-बुद्धि दूर हो सकेगी; किसी बाहरी समझौते से नहीं। वे आज भी काम कर रहे हैं। आज भी जहाँ-कहीं भी हिन्दू-मुसलमानों में आन्तरिक प्रेम का योग देखता हूँ, वहीं समझता हूँ कि रास्ता उन्होंने ही निकाल दिया है।"

आगे चलकर रवीन्द्रनाथ कहते हैं—"भारत की वाणी वहन करते हुए 'एक' के जो दूत इस देश में जन्म ग्रहण कर चुके हैं, उन्होंने शुरू में ही आदर पाया हो, सो बात नहीं। देश के लोग जब उन्हें एकदम अस्वीकार नहीं कर सके, तब नाना काल्पनिक कहानियों से उन्होंने उनकी स्मृतियों का संशोधन कर लेना चाहा। जहां तक हो सका, उनके जीवन-चरित्र पर सनातन रंग की तूलिका फेर दी; किन्तु तब भी भारत की इन श्रेष्ठ सन्तानों ने जनता का समादर पाने में बाधा पाई थी, यह बात याद रखनी ही होगी। इस आदर को न पाना ही स्वाभाविक है क्योंकि वे उसी प्रकार सनातन विधि के बाहर के आदमी थे जिस प्रकार ईसामसीह यहूदी-फैरसी सीमा के बाहर के आदमी थे। किन्तु जिस कारण वे अनादर की असाम्प्रदायिक छाया से प्रच्छन्न थे, इसीलिये वे अभारतीय थे, यह बात ठीक नहीं। वे ही वास्तव में भारतीय थे, क्योंकि ये वही थे, जिन्होंने किसी बाहिरी सुविधा से नहीं, बल्कि आन्तरिक आत्मीयता से हिन्दू-मुसलमानों को एक समझा था—वे ही ऋषि के उस वाक्य को अपनी साधना में प्रमाणित कर सके थे कि सत्य को वही जानता है, जो अपने को सबमें देखता है।

"मिट्टी के निचले तल में जल का स्रोत बह रहा है, घोर शुष्कता के दिन में भी यह आशा की बात मैं याद दिला देना चाहता हूँ। अंतर के रेगिस्तान का बन्धन लोहे की मेंड़ से अधिक दुस्तर होता है। हमारे देश में उसी शुष्कता और अप्रेम का बन्धन सबसे अधिक सर्वनाशी होकर चारों ओर फैल गया है। स्वार्थरूपी मशक से जल ढोकर ले जाना, व्यापारिक उद्देश से यात्रा करनेवाले व्यवसाइयों के समान है। उससे प्रतिक्षण कभी काम निकल भी आता है, कभी नहीं भी निकलता; कभी बालू की आँधी से सब कुछ दब जाता है; मशक का पानी गर्म हो उठता है, सूख जाता है, छिद्रों से झड़ पड़ता है—चू जाता है। किन्तु इस मरुभूमि में जहाँ मिट्टी के नीचे चिर-वहमान छिपे हुए जल का स्रोत बह रहा हो, वहीं बचाव है। मरमी कवियों की वाणी का स्रोत समाज के अगोचर स्तर में बह रहा है।

शुष्कता के बन्धन को तोड़ने का सच्चा उपाय उस प्राणमयी धारा में ही है। उसका उद्धार करके आज उसे साहित्य के ऊपरी धरातल में ले आना होगा। हमारे पुराणों में लिखा है कि सगर-वंश भस्म होकर रसातल में पड़ा था; उन्हींको बचाने के लिये विष्णु-पाद-पद्म-विगलित जाह्नवी की धारा को बैकुण्ठ से लाया गया था। इसका गम्भीर अर्थ यही है कि प्राण जहाँ दग्ध हो गए हैं, वहां उन्हें रस के प्रवाह से ही बचाया जा सकता है। किसी कर्म के आवर्तन से उन्हें केवल हिलाया भर जा सकता है, बचाया नहीं जा सकता। मृत्यु से मनुष्य के चित्त की रक्षा करने के लिये बैकुण्ठ की अमृत-रसधारा के ऊपर ही हमारे मरमी कवियों ने दृढ़ आस्था रखी थी, किसी बाह्याचार के समझौते पर नहीं। वे जिस रस-धारा को बैकुण्ठ से ले आए थे, वह हमारे देश की सामाजिक बालू के नीचे छिपी है; किन्तु मरी नहीं। क्षिति बाबू ने बंगाल-प्रदेश में उसी लुप्त स्रोत के उद्धार का भार लिया है। केवल हिन्दी-भाषा से ही नहीं, बल्कि आशा किए बैठा हूँ कि बंगला भाषा की गुहा से भी वे बाउल सन्तों की उस सुवर्ण-रेखा की वाणीधारा प्रकाशित करेंगे, जिसमें सोने के कण छिपे हैं।"

अध्यापक सेन की इस पुस्तक ने बंगला और हिन्दी-साहित्यों को समान भाव से उपकृत किया है। हमें आशा करनी चाहिए कि वे भविष्य में भी अन्यान्य साधकों की अमृतवर्षीय वाणियों का रसास्वादन कराएंगे? हिन्दी-भाषी सन्त-साहित्य-प्रेमियों को बंगाल के बाउल सन्तों की 'सुवर्ण-रेखा की वाणी-धारा' के रसास्वादन की प्रतीक्षा है।

—['विशाल भारत'-दिसम्बर, '३५]

———

१०

मधुर–रस की साधना

'मधुर' नामक भक्ति-रस के विचार का उत्थापन करते समय श्री रूप गोस्वामी ने भक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थ में लिखा है कि 'आत्मोचित विभावादिद्वारा मधुरा रति जब सदाशय व्यक्तियों के हृदय में पुष्ट होती है, तब उसे मधुर नामक भक्तिरस कहते हैं। यह रस उन लोगों के किसी काम का नहीं जो निवृत्त हों (अर्थात्, जैसा कि जीव गोस्वामी ने 'निवृत्त' शब्द का अर्थ किया है, प्राकृत शृंगार–रस के साथ इसकी समानता देखकर इस भागवत–रस से भी विरक्त हो गए हों); फिर यह रस दुरूह और रहस्यमय भी है; इसलिये यद्यपि यह बहुत विशाल और विततांग है, तथापि संक्षेप में ही लिख रहा हूँ' :—

> आत्मोचितविभावाद्यैः पुष्टिं नीता सतां हृदि ।
> मधुराख्यो भवेद् भक्तिरसोऽसौ मधुरा रतिः ॥
> निवृत्तानुपयोगित्वाद् दुरूहत्वादयं रसः ।
> रहस्यत्वाच्च संक्षिप्य विततांगोऽपि लिख्यते ॥

गोस्वामिपाद के इस कथन के बाद दुनियादारी की झंझटों में फँसे हुए किसी भी मादृश व्यक्ति का इस रस के सम्बन्ध में लिखने का सङ्कल्प ही दुःसाहस है। फिर भी यह दुःसाहस किया जा रहा है, क्योंकि पहले तो गोस्वामिपाद ने यद्यपि बड़े कौशलपूर्वक इसकी दुरूहता की ओर ध्यान आकृष्ट कर दिया है, परन्तु कहीं भी ऐसा संकेत नहीं किया कि इस रस की चर्चा निषिद्ध है। दूसरे, भक्तिशास्त्रकारों और अनुरक्त भक्तजनों की चर्चा करते रहने से—ऐसा विधान है—कि पहले श्रद्धा, फिर रति और फिर भक्ति अनुक्रमित होती है—

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः ।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥
(श्रीमद्भा० ३।२५।२५)

तीसरे, गोस्वामिपाद ने इसे उन लोगों के लिये अनुपयोगी बताया है जो निवृत्त हों अर्थात् इस रस के साथ शृंगार का साम्य देखकर ही विदक गये हों—उन लोगों के लिये नहीं जो शृंगार-रस के साथ इसका साम्य देखकर ही इधर आकृष्ट हुए हों। शास्त्रों में और इतिहास में ऐसे अनेक भक्त प्रसिद्ध हो गए हैं, जो ग़लती से ही इस रास्ते आ पड़े थे और फिर जीवन का चरम लाभ पा लेने में समर्थ हुए थे। कहते हैं, रसखान और घनानन्द इसी प्रकार इस रास्ते आ गये थे, सूरदास और बिल्वमङ्गल ग़लती से ही इधर आ पड़े थे और बाद में वे क्या हो गये—यह जगद्विदित प्रसङ्ग है।

इन पंक्तियों के लेखक के समान ही ऐसे बहुत-से लोग होंगे जो साहित्य-चर्चा के प्रसङ्ग में दिन रात रत्यादिक स्थायी भावों तथा विभाव-अनुभाव-सञ्चारीभाव और सात्त्विक भावों की चर्चा करते रहते होंगे या कर चुके होंगे। उन लोगों को यह जान रखना चाहिए कि भक्ति में केवल एक ही स्थायी भाव है—श्रीकृष्णविषयक रति या लगन। अवश्य ही, भक्तों के स्वभाव के अनुसार यह लगन पाँच प्रकार की हो सकती है—शान्त स्वभाव की, दास्य-स्वभाव की, सख्य-स्वभाव की, वात्सल्य-स्वभाव की और मधुर-स्वभाव की। इन पाँचों स्वभावों के अनुसार रति भी पाँच प्रकार की होती है—शान्ता, प्रीता, प्रेयसी, अनुकम्पा और कान्ता। जहाँ तक जड़ जगत् का विषय है, इनमें शान्ता रति सबसे श्रेष्ठ है और फिर बाक़ी क्रमशः नीचे पड़ती हुई अन्तिम रति कान्ताविषयक होकर शृंगार नाम ग्रहण करती है। जड़-विषयक होने से यह सबसे निकृष्ट होती है। परन्तु जड़ जगत् है क्या चीज़? नन्ददास ने ठीक ही कहा है कि यह भगवान् की छाया है जो माया के दर्पण में प्रतिफलित हुई है—

या जग की परछाँह री माया दरपन बीच।

अब अगर दर्पण की परछाँह की जाँच की जाय तो स्पष्ट ही मालूम होगा कि इसमें छाया उल्टी पड़ती है। जो चीज़ ऊपर होती है, वह नीचे पड़ जाती है और जो नीचे होती है, वह ऊपर दीखती है। ठीक यही अवस्था रति की हुई है। जड़ जगत् में जो सबसे नीचे है, वही भगवद्विषयक होने पर सबसे ऊपर हो जाती है। यही कारण है कि शृंगार-रस जो जड़ जगत् में सब से निकृष्ट है, वस्तुतः भगवद्विषयक शृंगार होने पर ही मधुर रस हो जाता है, यद्यपि भक्ति–शास्त्र की मर्यादा के अनुसार इसे शृङ्गार नहीं कहा जा सकता। केवल व्रज–सुन्दरियों के लिये शृङ्गार और मधुर एक रस हैं; क्योंकि उनके लिये काम और प्रेम में भेद नहीं है। भक्तिरसामृतसिन्धु में कहा गया है कि गोपरमणियों का प्रेम ही काम कहा गया है—

प्रेमैवगोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्।

कारण स्पष्ट है—जड़विषयक अनुराग को 'काम' कहते हैं और भगवद्विषयक अनुराग को 'प्रेम'। व्रज–सुन्दरियों की सारी कामना के विषय 'असमानोर्ध्वसौन्दर्यलीलावैदग्ध्यसम्पदाम्' आश्रय–स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण थे और इसीलिये उनके काम को जड़विषयक कहा ही नहीं जा सकता। गीतगोविन्द में कहा गया है कि 'हे सखि, जो अनुरंजन के द्वारा समस्त विश्व का आनन्द उत्पादन करते हैं, जो इन्दीवर–श्रेणी के समान कोमल श्यामल अङ्गों से अनङ्गोत्सव का विस्तार कर रहे हैं तथा व्रज–सुन्दरियों द्वारा स्वच्छन्द भाव से जिनका प्रत्येक अङ्ग आलिङ्गत हो रहा है, वही भगवान् मूर्तिमान् शृंगार की भाँति मुग्ध होकर वसन्त–ऋतु में विहार कर रहे हैं—

विश्वेषामनुरंजनेन जनयन्नानन्दमिन्दीवर-
श्रेणीश्यामलकोमलैरुपनयन्नङ्गैरनङ्गोत्सवम्।
स्वच्छन्दं व्रजसुन्दरीभिरभितः प्रत्यङ्गमालिङ्गितः
शृङ्गारः सखि मूर्तिमानिवमधौ मुग्धो हरिः क्रीडति॥

सो यही भगवान्, जो साक्षात् शृंगार स्वरूप हैं, मधुर-रस के प्रधान अवलम्बन हैं। इनकी प्रेयसियाँ वे परम अद्भुत किशोरियाँ हैं, जो नव-नव उत्कृष्ट माधुरी की आधारस्वरूपा हैं, जिनके अंग-प्रत्यंग भगवान की प्रणय-तरङ्ग से करम्बित हैं और जो रमणरूप से भगवान् का भजन करती हैं—

नवनववरमाधुरीधुरीणाः प्रणयतरङ्गकरम्बिताङ्गरङ्गाः ।
निजरमणतया हरिं भजन्तीः प्रणमत ताः परमाद्भुताः किशोरीः ॥
(भक्तिरसामृतसिन्धु)

इन व्रज-सुन्दरियों में भी राधारानी सर्वश्रेष्ठ हैं, जिनके लोचन मदमत्त चकोरी के लोचनों की चारुता को हरण करनेवाले हैं, जिनके परमाह्लादन वदनमण्डल ने पूर्णिमा के चन्द्र की कमनीय कीर्ति का भी दमन किया है, अविकल कलधौत-स्वर्ण-के समान जिनकी अंग-श्री सुशोभित है, जो मधुरिमा की साक्षात् मधुपात्री हैं—

मदनकुटचकोरीचारुताचोरदृष्टि-
र्वदनदमितराकारोहिणीकान्तकीर्तिः ।
अविकलकलधौतोद्धूतिधौरेयकश्री-
र्मधुरिममधुपात्री राजते पश्य राधा ॥

जड़ादिविषयक शृंगारादि रस के साथ इस अनिर्वचनीय मधुर रस का एक और मौलिक अन्तर है। अलंकार-शास्त्रों में विवृत शृंगारादि रस केवल जड़ोन्मुख ही नहीं होते, उनके भाव की स्थिति भी जड़ में ही होती है। अलंकारशास्त्र में बताया गया है कि शृंगारादि रसों के रत्यादि स्थायीभाव संस्काररूप से मन में स्थित रहते हैं। यह संस्कार या वासना पूर्वजन्मोपार्जित भी होती है और इस जन्म की अनुभूति भी हो सकती है। अब आत्मा तो निर्लेप है, उसके साथ पूर्वजन्म के संस्कार तो आ ही नहीं सकते; फिर स्थायी भाव के संस्कार आते कैसे हैं? इसका उत्तर शास्त्रों में इस प्रकार दिया गया है कि आत्मा के साथ सूक्ष्म या लिंगशरीर भी एक शरीर से दूसरे में संक्रमित होता है।

इस सूक्ष्म शरीर में ही पाप-पुण्य आदि के संस्कार रहते हैं। बृहदारण्यक-उपनिषद् में कहा गया है कि यह आत्मा विज्ञान, मन, श्रोत्र, पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, तेजस्, काम, अकाम, क्रोध, अक्रोध, धर्म और अधर्म इत्यादि सब लेकर निर्गत होता है। यह जैसा करता है, वैसा ही भोगता है—

स वायमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयः काममयोऽकाममयः क्रोधमयोऽक्रोधमयो धर्ममयोऽधर्ममयः सर्वमयस्तद्यदेतदिदमयोऽदोमय इति यथाकारी यथाचारी तथा भवति। साधुकारी साधुर्भवति, पापकारी पापो भवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन।

(बृहदारण्यक० ४।४।५)

सांख्यकारिका में क़रीब-क़रीब इन सभी बातों को लिंग-शरीर कहा गया है। बताया गया है कि प्रकृति के तेईस तत्वों में से अन्तिम पांच तो अत्यन्त स्थूल हैं, पर बाकी अठारहों तत्व मृत्यु के समय पुरुष के साथ ही साथ निकल जाते हैं। जब तक पुरुष ज्ञान प्राप्त किए बिना मरता है, तब तक ये तत्व उसके साथ लगे होते हैं (सां० का० ४०)। अब यह तो स्पष्ट ही है कि प्रथम तेरह अर्थात् बुद्धि, अहंकार, मन और दसों इन्द्रिय प्रकृति के गुणमात्र, अतः सूक्ष्म हैं। उनकी स्थिति के लिये किसी स्थूल आधार की ज़रूरत होगी। पञ्चतन्मात्र इसी स्थूल आधार का काम करते हैं। उपनिषदों में इसी बात को और तरह से कहा गया है। आत्मा का सबसे ऊपरी आवरण तो यह स्थूल देह है; इसे उपनिषदों में अन्नमय कोष कहा गया है। दूसरे आवरण क्रमशः अधिक सूक्ष्म हैं, उनमें प्राणमय, ज्ञानमय और आनन्दमय कोष हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि स्थूल शरीर की अपेक्षा प्राण सूक्ष्म हैं; उनकी अपेक्षा मन, उसकी अपेक्षा बुद्धि और इन सबसे अधिक सूक्ष्म आत्मा है। भगवान ने गीता में इसी बात को इस प्रकार कहा है—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥

वेदान्तशास्त्र में कई प्रकार से यह बात बताई गई है । कहीं इसके सत्रह अवयव बताए गए हैं- पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, बुद्धि, मन और पाँच प्राण (वेदान्तसार १३ ; फिर आठ पुरियों का उल्लेख है (सुरेश्वराचार्य का पञ्चीकरणवार्तिक)–जिनमें पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त, पाँच प्राण, पाँच भूतसूक्ष्म (तन्मात्र) अविद्या, काम और कर्म हैं । ऐसे ही और भी कई विधान हैं । इनका शास्त्रकारों ने समन्वय भी किया है (वेदान्तसार १३ पर विद्वन्मनोरंजनी टीका) । यहां प्रकृत यह है कि स्थायी भावों के संस्कार इसी लिङ्गशरीर में हो सकते हैं । वह चूँकि जड़ है, इसलिये उसकी प्रवृत्ति जड़ोन्मुख होती है । अलंकारशास्त्रों में यह बार-बार समझाया गया है कि रस न तो कार्य है और न ज्ञाप्य । क्योंकि कार्य होता तो विभवादि के नष्ट होने पर नष्ट नहीं हो जाता, कारण के नष्ट होने से कार्य का नष्ट होना नहीं देखा जाता—स च न कार्यः, विभावादि विनाशेऽपि तस्य सम्भवप्रसङ्गात् (काव्यप्रकाश ४र्थ उल्लास) । परन्तु मधुर रस आत्मा का धर्म है, यह स्थूल जड़ जगत् की वस्तु नहीं है । उसके विभावादि का कभी विलय नहीं होता, इसलिये उसके लिए सम्भवासम्भव-प्रसङ्ग उठता ही नहीं ।

रस कई प्रकार के हैं । सबसे स्थूल है अन्नमय कोष का आस्वाद्य रस । रसनादि इन्द्रियों से उपभोग्य रस अत्यन्त स्थूल और विकारप्रवण है । इससे भी अधिक सूक्ष्म है मानसिक रस अर्थात् जो रस मनन या चिन्तन से आस्वाद्य है । उससे भी अधिक सूक्ष्म है विज्ञानमय रस, जो बुद्धि द्वारा आस्वाद्य है; पर यह भी जितना भी सूक्ष्म क्यों न हो, सूक्ष्मतम आनन्दमय रस के निकट अत्यन्त स्थूल है । आत्मा जिस रस का अनुभव करता है, वही सर्वश्रेष्ठ भक्ति-रस है, जिसका नाना

स्वभावों के भक्त नाना भाव से आस्वादन करते हैं। मधुर रस उसीका सर्वश्रेष्ठ स्वरूप है। स्पष्ट ही है कि इसकी ठीक-ठीक धारणा इन्द्रियों से तो हो ही नहीं सकती, मन और बुद्धि से भी नहीं हो सकती। वह न तो चिन्तन का विषय है, न बोध का। वह अलौकिक है। इसीलिये भक्तिशास्त्र ने इसके अधिकारी होने के लिये बहुत ही कठोर साधना का उपदेश किया है। रूप गोस्वामी ने इसीलिये इसे दुरूह कहा है। श्रीचैतन्य महाप्रभु कहते हैं—तृण से भी सुनीच होकर, वृक्ष की अपेक्षा भी सहनशील बनकर, मान त्यागकर, दूसरे को सम्मान देकर ही हरि की सेवा की जा सकती है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन सेवितव्यः सदा हरिः॥

इन्द्रिय, मन और बुद्धि का सम्पूर्ण निग्रह और वशीकरण जबतक न हो जाय, तब तक इस सुकुमार भक्तिक्षेत्र में आने का अधिकार नहीं मिलता। लोक-परलोक के विविध भोगों की और मोक्ष सुख की कामना जब तक सर्वथा नहीं मिट जाती, तबतक इस मधुर प्रेमराज्य की सीमा के अन्दर प्रवेश ही नहीं हो सकता। इसीसे यह सिद्धान्त बतलाया गया है—

भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते।
तावत् प्रेमसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्॥

जबतक भोग और मोक्ष की पिशाचिनी इच्छा हृदय में वर्तमान है, तब तक प्रेम-सुख का उदय कैसे हो सकता है?

श्रीमद्भागवत में कहा गया है—असत् शास्त्रों में आसक्ति, जीविकोपार्जन, तर्कवादपक्षाश्रयण, शिष्यानुबन्ध, बहुग्रन्थाभ्यास, व्याख्योपयोग, महान् आरम्भ—ये सब भक्ति चाहने वाले के लिये वर्जित हैं—

नासच्छास्त्रेषु सज्जेत नोपजीवेत जीविकाम् ।
वादवादांस्त्यजेत्तर्कान् पक्षं कं च न संश्रयेत् ॥
न शिष्याननुबध्नीत ग्रन्थान्नैवाभ्यसेद्बहून् ।
न व्याख्यामुपयुञ्जीत नारम्भानारभेत् क्वचित् ॥

(श्रीमद्भा० ७ । १३ । ६-७)

इन बातों के लिये शास्त्रकारों ने बहुत से उपाय बताए हैं, जो न तो इस क्षुद्र प्रबन्ध में बताए ही जा सकते और न वे अनधिकारी लेखनी के साध्य के विषय ही हैं। इसीलिये इस चर्चा को और आगे नहीं बढ़ाया जा रहा। जब सारा अभिमान और अहंकार दूर हो जायगा, ज्ञान और पाण्डित्य शान्त हो रहेंगे, तब वह परमाराध्य जिसकी नर्त्यमान भ्रूलता के कारण मुखश्री अत्यन्त मधुर हो उठी है, जिसका कर्णाग्रभाग अशोक-कलिका से विभूषित है, ऐसा कोई नवीन निकषा-प्रस्तर के समान वेशवाला किशोर वंशीरव से मन और बुद्धि को बेबस कर डालेगा—

भ्रूवल्लिताण्डवकलामधुराननश्रीः कङ्केलिकोरककरम्बितकर्णपूरः ।
कोऽयं नवीननिकषोपलतुल्यवेषो वंशीरवेण सखि मामवशीकरोति ॥

—["कल्याण-साधनांक"]

११

संस्कृत साहित्य में कलहंस

लो, नववधू की भांति शरद् ऋतु आ गई। प्रसन्न है उसका चन्द्रमुख, निर्मल है उसका अम्बर, उत्फुल्ल हैं उसके कमल-नयन, लक्ष्मी की भाँति विभूषित है वह लीला-कमल से तथा उपशोभित है हंस-रूपी बाल-व्यजन–नन्हें-से पंखे–से। आज जगत् का अशेष तारुण्य प्रसन्न है।[1] शरद् वधू आई और साथ में लेती आई कादम्ब और कारण्डव को, चक्रवाक और सारस को, क्रौंच और कलहंस को।[2] आदिकवि ने लक्ष्य किया था कि शरदागम के साथ ही साथ पद्मधूलि-धूसर सुन्दर और विशाल पक्षवाले कामुक चक्रवाकों के साथ कलहंसों के झुण्ड महानदियों के पुलिनों पर खेलने लगे थे। प्रसन्नतोया नदियों के सारस-निनादित स्रोत में—जिनमें कीचड़ तो नहीं था, पर बालू का अभाव भी नहीं था—हंसों का झुण्ड टूट पड़ने लगा था।[3] आदि कवि

१. अद्य प्रसन्नेन्दुमुखी सिताम्बरा समाययावुत्पलपत्रनेत्रा।
सपंकजा श्रीरिव गां निषेवितु सहंस-बाल-व्यजना शरद्वधूः॥

—महामनुष्य

२. कादम्ब-कारण्डव-चक्रवाक—स-सारस-क्रौंच-कुलानुयाता।
उपानयन्ती कलहंसयूथम् अगस्तदृष्टया पुनती पयांसि।

—काव्यमीमांसा, १८

३. अभ्यागतैश्चारुविशालपक्षैः स्मरप्रियैः पद्मरजोऽवकीर्णैः।
महानदीनां पुलिनोपयातैः क्रीडन्ति हंसाः सहचक्रवाकैः॥
व्यपेतपंकासु सवालुकासु प्रसन्नतोयासु सगोकुलासु।
ससारसारावनिनादितासु नदीषु हंसा निपतन्ति हृष्टाः॥

—किष्किंधा, ३०

का लक्ष्य किया हुआ वह दृश्य सदा सहृदय जनों के चित्त को आह्लादित करता रहेगा, जो एक शरत्कालीन निर्मल नीरवाले महाह्रद में कवि ने देखा था। एक हंस कुमुद-पुष्पों से घिरा हुआ सो रहा था और प्रशान्त निर्मल ह्रद में वह ऐसा सुशोभित हो रहा था, मानो मेघमुक्त आकाश में तारागणों से वेष्टित पूर्णचन्द्र हो।[४] संस्कृत के कवि ने शरद् ऋतु में होने वाले अद्भुत परिवर्तन को अपनी और भी अद्‌भुत भंगी से इस प्रकार लक्ष्य किया था कि आकाश अपनी स्वच्छता से निर्मल नीर-सा बना हुआ है, निर्मल नीर अपने स्पर्श सुख से कान्ता-सा बना हुआ है, कान्ता अपनी कमनीय गति से हंस-सी बनी जा रही है और हंस अपनी शुक्लता से चन्द्रमा-सा बना जा रहा है।[५] सब कुछ विचित्र, सब कुछ नवीन, सब कुछ स्फूर्तिदायक।

पक्षि विद्या-विशारदों ने देखा है कि जब उत्तर और मध्य एशिया में कड़ाके की सर्दी पड़ने लगती है तो हंस जाति के अनेक पक्षी दल बांधकर दक्षिण की ओर उड़ते हैं। ये दिन-रात उड़ते ही चले आते हैं। उत्तुंग हिमालय पर्वत उनके रास्ते में विघ्न नहीं बनता। हिलसर ने "ए पापुलर हैण्डबुक ऑफ़ इण्डियन बर्ड्स" नामक पुस्तक में इन अक्लान्त उड़ाके पक्षियों का वर्णन किया है। ये नाना मार्गों से हिमालय की पर्वत श्रेणियों को लाँघते हैं। सुदूर वैदिक युग में ऋषियों ने कतार बाँधकर अक्लान्त-भाव से उड़ते हुए इन पक्षियों को लक्ष्य किया था (ऋग्वेद ३।८।६)। उनकी कड़ी ऊँची आवाज़ और रात्रि-

---

४. सुप्तैकहंसं कुमुदैरुपेत महाह्रदस्थं सलिलं विभाति।
घनैर्विमुक्तं निशि पूर्णचन्द्रं तारागणाकीर्णमिवान्तरीक्षम्॥
— किष्किंधा, ३०

५. चंद्रायते शुक्लरुचा हि हंसो हंसायते चारुगतैश्च कान्ता।
कान्तायते स्पर्श सुखेन वारि वारीयते स्वच्छतया विहायः॥
—भट्टतोष

जागरण ऋक् ३।५।३।१०) भी ऋषियों को अज्ञात नहीं था। ऋग्वेद में कई जगह उन्हें 'उद्प्रुत्' या जल में तैरनेवाला पक्षी बताया गया है (१।६५।५ और ३।४५।४) और शतपथ ब्राह्मण में उर्वशी के प्रसंग में (११।५।१।४) अप्सराओं का हंसिनी के रूप में पानी में तैरना वर्णन किया गया है। विदेशी शिकारियों ने लक्ष्य किया है कि मध्य एशिया, और कभी-कभी साइबेरिया में भी इन पक्षियों की प्रवासोत्कंठा जुलाई–अगस्त में ही शुरू हो जाती है। वे सितम्बर के महीने में हिमालय पर्वत लाँघते दिखाई देते हैं और अक्टूबर महीने में सुदूर सिंहल तक छा जाते हैं। भारतवर्ष के पूर्वी और पश्चिमी, उत्तरी और दक्षिणी सभी हिस्सों में शरदागम के साथ-साथ इन पक्षियों को सर्वत्र पाया जा सकता है। भारतीय कवियों में प्रसिद्ध है कि जलाशय-मात्र में हंस का वर्णन होना चाहिए।[६] पक्षि-विद्या-विशारदों की गवाही पर कहा जा सकता है कि यह प्रसिद्धि नितान्त अमूलक नहीं है।

संस्कृत साहित्य में 'हंस' शब्द बहुत व्यापक अर्थों में प्रयुक्त होता है; कभी–कभी वह इस जाति के प्रायः सभी पक्षियों के लिये व्यवहृत होता है। पर साधारणतः क्रौंच, चक्रवाक, कारण्डव, सारस आदि का अलग से नामोल्लेख होने के कारण हस शब्द का प्रयोग 'राजहंस' और 'कलहंस' इन दो पक्षियों के अर्थ में होता है। कलहंस को ही कादंब कहते हैं।[७] इनके पक्ष धूसर वर्ण के होते हैं और राजहंस के पक्ष सित –श्वेत–वर्ण के तथा चरण और चोंच लाल रंग के होते हैं। वैजयन्ती-कोष में राजहंस के पक्षों को सित-धूसर ('ह्वाइट-ग्रे') कहा गया है। श्री सत्यचरण लाहा महाशय ने अपनी विद्वत्तापूर्ण पुस्तक 'कालिदासेर पाखी' में लिखा है कि 'मूरक्रॅफ्ट ने मानसरोवर में जो हंस देखे थे, उन्हें उन्होंने 'लार्ज ग्रे वाइल्ड गूज़' कहा है। भारतीय पक्षि-तत्व-विशारद

---

६. काव्यमीमांसा १४; साहित्यदर्पण ७.२३;

—अलंकारशेखर, १५

७. वैजयन्तीकोष, पक्षिकांड और अमरकोष ५.२४;

मिस्टर स्टुअर्ट बेकर लिखित प्रमाणिक ग्रन्थ से जाना जाता है कि 'ग्रे गूज़' साधारणतः अंग्रेज़ों के निकट 'ग्रे लैग गूज़' नाम से परिचित है। ये 'एनसेरनस' के अन्तर्वंशवाले ख़ानाबदोश पक्षी हैं। इनकी देह का रङ्ग कहीं सफ़ेदी के साथ भस्म के रङ्ग का और कहीं-कहीं धूसर वर्ण का सम्मिश्रण होता है। चोंच और चरणों में सफ़ेदी के साथ मामूली लालिमा का आभास भी पाया जाता है। हिन्दी-भाषा में इनके कई नाम प्रचलित हैं - जैसे राजहंस, कलहंस। ये प्रायः सम्पूर्ण रूप से उद्भिज्जाशी हैं। जाड़ा आरम्भ होने के पहले अक्टूबर के महीने से शुरू करके मार्च मास तक उत्तर भारत में इनके झुण्ड दिखाई देते हैं। यहां तक कि ये झुण्ड क्रमशः एक तरफ़ बम्बई और दूसरी तरफ़ चिल्का ह्रद, पूर्व बंग और आसाम तथा ब्रह्मा तक फैल जाते हैं। कभी-कभी ये सीलोन में भी दिख जाते हैं। बड़े-बड़े जलाशय, झील और नदी-मैकन ही इनकी विहार-भूमि हैं। ये ख़ानाबदोश ग्रे गूज़ भारतवर्ष के स्थायी अधिवासी हैं। जाड़ों में भारतवर्ष और उसके निकटवर्ती प्रदेशों में ये आ उपस्थित होते हैं और वर्षा के आरम्भ होने के पूर्व साधारणतः अण्डे देने के लिये अन्यत्र चले जाते हैं। इसका वैज्ञानिक नाम 'अनसर अनसर लिन' है।" इसी 'ग्रे गूज़' को लाहा महाशय 'राजहंस' कहते हैं (पृ० १७)। इसके अतिरिक्त एक और प्रकार के हंस भी हैं जिनके शरीर का रङ्ग निरवच्छिन्न शुभ्र न होकर सफ़ेदी लिए हुए धूसर-पिंगल वर्ण का होता है और मस्तक, कंठ, निम्न-देह का अन्तिम हिस्सा और पूँछ का निचला हिस्सा सफ़ेद होता है, तथा मस्तक के नीचे दो काली धारियाँ होती हैं। (वैज्ञानिक नाम 'अनसर इन्डीकस' और इन्हें भी राजहंस या कड़हंस कहते हैं)। लाहा महाशय के मत से राजहंस प्रसंग में विवेच्य हो सकते हैं (पृ० १८)। इनकी चोंच नारङ्गी रङ्ग की होती हैं और दूर से लाल-सी दिखती है।

डगलस डेवार नामक पक्षितत्वज्ञ ने अपनी पुस्तक 'ए बर्ड कैलेण्डर फ़ॉर नार्दर्न इंडिया' (पृ० ४१) में 'ग्रे लैग गूज़' नामक

पक्षी का वैज्ञानिक नाम 'अनसर फीरस' बताया है, और यह पक्षी लाहा महाशय के बताए हुए पक्षी से रङ्ग-रूप में ज़रा भिन्न है। वस्तुतः इसीको युक्तप्रान्त के पूर्वी ज़िलों में 'कड़हंस' या 'कलहंस' कहते हैं। लाहा महाशय का बताया हुआ पक्षी भी युक्तप्रान्त और बिहार के किसी भाग में शायद कलहंस की उपाख्या पा सका हो, परन्तु 'कलहंस' के जो लक्षण काव्य-ग्रंथों में दिए हुए हैं, उनसे यह पक्षी ज़्यादा मिलता है। राजहंस के विषय में काव्य-ग्रंथों में कहा गया है कि वर्षाकाल में वह उड़कर मानसरोवर की ओर जाने लगता है। बल्कि यह कवि-प्रसिद्धि हो गई है कि वर्षाऋतु का वर्णन करते समय यह ज़रूर कहा जाय कि ये उड़कर मानसरोवर को जाते हैं।[८] कालिदास के यक्ष ने अपने सन्देशवाही मेघ को आश्वस्त कराते हुए कहा था कि 'हे मेघ, तुम्हारे श्रवण-सुभग मनोहर गर्जन को सुनकर मानसरोवर के लिये उत्कंठित होकर राजहंस मुँह में मृणाल तन्तु का पाथेय लेकर उड़ पड़ेंगे और कैलास पर्वत तक तुम्हारा साथ देंगे[९]।' परन्तु 'ग्रे लैग गूज़' नामक पक्षी—जो मेरी समझ में कलहंस हैं—हिन्दुस्तान के मैदान को छोड़कर भागनेवाले पक्षियों में सर्व प्रथम होते हैं ('ए बर्ड कैलेण्डर' पृ० ४१)। बंगाल को तो ये फरवरी में ही छोड़ देते हैं और देश के शीततर स्थानों की ओर चल पड़ते हैं। वर्षाकाल में रामगिरि-आश्रम के आसपास भी इनका अस्तित्व नहीं होता।

परन्तु कोषकारों ने जहाँ हंस-जाति के अन्यान्य पक्षियों के अलग-अलग नाम और लक्षण बताए हैं, वहाँ 'कलहंस' शब्द को दो प्रकार के हंसों के

---

८. साहित्यदर्पण ७।२३

९. कर्तुं यच्च प्रभवति महीमुच्छिलींध्रामवन्ध्याम् ।
तच्छ्रुत्वा ते श्रवणसुभगं गर्जितं मानसोत्काः ॥
आकैलासाद्बिसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः ।
संपत्स्यंते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः ॥
—मेघदूत, १।११

अर्थ में प्रयुक्त बताया है। इस प्रकार वैजयन्ती-कोष के मत से 'कलहंस' का अर्थ 'कादंब' और 'राजहंस' दोनों ही हो सकता है। इसलिये यह बिलकुल आश्चर्य की बात नहीं कि हिन्दी में एक ही पक्षी को 'राजहंस' और 'कड्हंस' दोनों ही शब्दों से बताया गया है। वस्तुतः इन दोनों पक्षियों में अन्तर इतना कम है कि साधारण दर्शक के लिये इनमें विशेष भेद नहीं है। कलहंस के पक्ष कुछ ज़्यादा धूसर होते हैं। शायद वेदों में, इनके कृष्णाभ रंगों को देखकर ही, हंस का नाम 'नीलपृष्ठ' दिया गया है (ऋग्वेद ७.४६.७)। राजहंस का वर्ण कुछ अधिक श्वेत होता है। कवियों ने राजहंस की इस श्वेतता का भूरि-भूरि वर्णन किया है। 'गंगा का जल श्वेत होता है, यमुना का काजल जैसा काला। पर राजहंस धन्य है जो दोनों जगह डुबकी लगाता है और फिर भी न यहाँ उसकी शुभ्रता बढ़ जाती है और न वहाँ घट जाती है'[१०]। 'महाराज भोज की कीर्ति की सफ़ेदी इतनी फैल गई थी कि भगवान् विष्णु अपने क्षीर समुद्र को खोज ही नहीं पाते थे, बिचारे शिवजी कैलास को ही नहीं पा रहे थे और ब्रह्मा की हालत यह हुई थी कि उस विशाल शुक्लता में उनका हंस ही लोप हो गया था। औरों की भी बुरी दशा थी। इन्द्र महाराज का सफ़ेद हाथी बेहाथ हुआ जा रहा था और अत्याचारी राहु अपने ग्रास के लिये चन्द्रमा को खोज नहीं पा रहा था'[११]!!

डगलस डेवार ने लक्ष्य किया है कि अक्टूबर के महीने में इन यायावर पक्षियों से भारतवर्ष के झील और जलाशय भर जाते हैं। मैंने

---

१०. गांगमम्बु सितमम्बु यामुनं कज्जलाभमुभयत्र मज्जतः।
राजहंस तव सैव शुभ्रता चीयते न च न चापचीयते ॥

११. महाराज श्रीमन् जगति यशसा ते धवलिते।
पयःपारावारं परमपुरुषोऽयं मृगयते।
कपर्दी कैलासं सुरपतिरपि स्वं करिवरं
कलानाथं राहुः कमलभवनो हंसमधुना ॥

—भोजप्रबन्ध

सुरहा झील में इन पक्षियों के झुण्डों को उतरते देखा है। यह दृश्य इतना मनोहर होता है कि कोई आश्चर्य नहीं कि कालिदास और वाल्मीकि के चित्त में इस दृश्य ने सदा के लिये स्थान बना लिया हो। यदि दर्शक को मालूम हो कि इनमें से अधिकांश तिब्बत के लद्दाख और छांगू झीलों से ही नहीं, सुदूर साइबेरिया से भी चलकर आए हैं तब तो उसके मानसिक आवेग सर्वोच्च विंदु तक उठ जाते हैं। साहस, रोमांस और भावावेग के मूर्तिमान रूप ये हंस वस्तुतः इस बात का दावा रखते हैं कि मनुष्य के काव्य और ललित कला को गतिशील बनाने का श्रेय पावें। भारतीय कवियों और कलाकारों को इन पक्षियों ने इतना अधिक प्रभावित किया है कि आप ऐसे किसी कवि या कलाकार का नाम नहीं बता सकते जो किसी-न-किसी बहाने इनकी चर्चा न कर गया हो। हंस और कमल भारतीय अलंकरण कला की तो जान है—साहित्य में भी, चित्र में भी, मूर्ति-शिल्प में भी। ये नव-वधू के प्रथम दुकूल अंचल को विभूषित करने के उपयुक्त पात्र हैं[१२], सरस्वती के वाहन होने के उचित अधिकारी हैं और निर्मल निर्लिप्त पुरुष के योग्य प्रतीक हैं।

काव्य ग्रन्थों में यह वर्णन भी मिलता है कि राजाओं और रईसों की भवन दीर्घिका (घर का भीतरी तालाब) और क्रीड़ा-सरोवरों में सदा पालतू हंस रहा करते थे। कादम्बरी में कहा गया है कि जब राजा शूद्रक सभा-भवन से उठे तो उनको घेरकर चलनेवाली वारविलासिनियों के नूपुर-रव से आकृष्ट होकर भवन-दीर्घिका के कलहंस सभागृह की सोपान-श्रेणियों को धवलित करके कोलाहल करने लगे और स्वभावतः ही ऊँची आवाज़वाले गृह-सारस मेखला-ध्वनि से उत्कंठित होकर इस प्रकार झंकार करने लगे मानों कांसे के बर्तन पर रगड़ पड़ने से कर्णकटु

---

१२. त्वमेव तावत्परिचिन्तय स्वयं कदाचिदेते यदि योगमर्हतः।
वधूदुकूलं कलहंसलांछितं गजाजिनं शोणितविंदुवर्षि च॥
—कुमारसंभव, ५।६।७

आवाज़ निकल रही हो[१३]। कालिदास ने गृह-दीर्घिकाओं के जिन उदक-लोल विहंगमों का वर्णन किया है[१४] वे मल्लिनाथ के मत से हंस ही थे। यद्यपि संस्कृत का कवि राजहंस और कलहंस को सम्बोधन करके कह सकता है कि हे हंसो, कमलधूलि से धूसरांग होकर इस भ्रमर गुंजित पद्मवन में हंसियों के साथ तभी तक क्रीड़ा कर लो जब तक कि हर-गरल और कालव्याल जालावली के समान निविड़ नील मेघ से सारे दिङ्मण्डल को काला कर देनेवाला (वर्षा-) काल नहीं आ जाता[१५], परन्तु भवन-दीर्घिका के हंस फिर भी निश्चिन्त रहेंगे। उन्हें किस बात की कमी है कि वे मेघ के साथ मानस-सरोवर की ओर दौड़ पड़ें। यही कारण है कि यक्ष के बगीचे में जो मरकत मणियों के घाटवाली वापी थी, जिसमें स्निग्ध वैदूर्य-नालवाले स्वर्णमय कमल खिले हुए थे, उसमें डेरा डाले हुए हंस, मान-सरोवर के निकटवर्ती होने पर भी, मेघ को देखकर वहाँ जाने के लिये उत्कंठित होनेवाले नहीं थे। उनको वहाँ किस बात

---

१३. नूपुररवाकृष्टानां च भवलितास्थानमण्डपसोपान-फलकानां भवनदीर्घिकाकलहंसकानां कोलाहलेन, रसना-रसितोत्सुकानां च तारतरविराविरागामुल्लिख्यमानकांस्य क्रेंकारदीर्घेण ..

—कादंबरी

१४. शुशुभिरे स्मितचारुतराननाः स्त्रिय इव श्लथशिंजितमेखलाः
विकचतामरसा गृहदीर्घिका मदकलोदकलोलविहंगमाः।

—रघुवंश, ९।३७

१५. भो हंसास्तावदंभोरुहकुहररजो रंजितांगाः सहेलं।
हंसीभिः पद्मषंडे मधुरमधुकरारावरम्ये रमध्वं॥
यावन्नायं दुरन्तो हरगलगरलव्यालजालालिनील-
प्रोन्मीलन्मेघमालामलिनसकलदिङ्मण्डलोऽभ्येति कालः॥

की चिन्ता थी, वे तो 'व्यपगत शुच्' थे[१६]। यह व्याख्या ग़लत है कि यक्ष का घर ऐसे स्थान पर था जहाँ वस्तुतः हंस रुक जाते हैं। सही व्याख्या यह है, जैसा कि मल्लिनाथ ने कहा है. कि वर्षाकाल में भी उस वापी का जल कलुष नहीं होता था, इसलिये वहाँ के हंस निश्चिन्त थे।

पक्षितत्त्व-विशारद हंसों के प्रव्रजन का कारण उनके आहार की कमी, भारतवर्ष की कड़ी गर्मी और वर्षारम्भ में प्रजनन-सौविध्य ही बताते हैं। कालिदास ने इन पक्षियों में मानस-सरोवर की ओर जाने में जो उत्कंठा देखी थी उसका कारण भी पक्षिविद्या-विशारदों ने यही बताया है। कालिदास की बात तो हम नहीं कह सकते, क्योंकि वे बहुत ही सूक्ष्मदर्शी थे और हंसों की उत्कंठा का ठीक-ठीक कारण उनकी सूक्ष्म दृष्टि से छिपा नहीं रह सका होगा, परन्तु अधिकांश संस्कृत कवि, जैसा कि ऊपर मल्लिनाथ के वक्तव्य से स्पष्ट है, हंस-प्रव्रजन का कारण वर्षा में नदी और तालाब के जलों का गँदला हो जाना ही बताते हैं। ठीक भी है, ये राजहंस हैं, कौए नहीं जो क्रुद्ध उलूक के नख-प्रहार से जर्जर होकर भी अमेध्य भक्षण करते हुए जहाँ के तहाँ चिपटे रहते हैं; ये वे राजहंस हैं जो स्वर्मंदाकिनी के कोमल मृणाल-तंतु से वर्द्धित हैं, जो गंगा के पानी में भी यदि गन्दगी देखें तो उसे छोड़कर चल देते हैं[१७]—निर्लिप्त, फक्कड़, लापरवाह! भला सोचिए तो सही, जिस राजहंस ने पहले

---

१६. वापी चास्मिन् मरकतशिलाबद्धसोपानमार्गा
हेमैश्छन्ना विकच कमलैः स्निग्धवैदूर्यनालैः।
यस्यास्तोये कृतवसतयो मानसं सन्निकृष्टाः
नाध्यासन्ति व्यपगतशुचस्त्वामपि प्राप्य हंसाः॥
—मेघदूत, २।१५

१७. क्रुद्धोलूकनखप्रहारविगलत्पक्षा अपि स्वाश्रयं
ये नोज्झन्ति पुरीषपुष्टवपुषो ते केचिदन्ये द्विजाः।
ये तु स्वर्गतरङ्गिणीबिसलतालेशेन संवर्द्धिताः
गांगं नीरमपि त्यजन्ति कलुषं ते राजहंसा वयम्॥

मानसरोवर के पद्मपराग-सुवासित निर्मल नीर में उम्र काटी, वह मेंढकों से कलुषित इस पल्वल (क्षुद्र जलाशय) के गँदले पानी में कैसे रह सकता है[१८] ? ना भई राजहंस, ठहरो। किसी पेड़ पर जा बैठो, पत्तों से शरीर ढक लो, थोड़े दिन की बात है, इस घोर वर्षाकाल को बीत जाने दो। वर्षा बीत जायगी, सरोवर का जल निर्मल हो जायगा, कमल खिल उठेंगे और फिर तुम वही राजहंस और वही तुम्हारी किलोलें[१९] !

भारतीय काव्य में हंस के विषय में एक अत्यन्त परिचित प्रसिद्धि यह है कि वे दूध को दूध और पानी को पानी कर देते हैं। काव्य-मीमांसाकार राजशेखर कवि प्रसिद्धियों को आँख मूँदकर ग्रहण करने के पक्षपाती नहीं थे। उन्होंने उनके विषय में सबसे पहले और सबसे अधिक छान-बीन की थी। उनका यह कहना बिलकुल ठीक है कि जो कवि अनुसंधान-शून्य होता है उसका भूषण भी दूषण हो जाता है और जो सावधान होता है उसके दोष भी गुण हो जाते हैं[२०]। उन्होंने हंसों के सम्बन्ध में जो कवि-प्रसिद्धि कही है, वह 'जो नहीं होता—ऐसे सामान्य विषय के निबंधन' की श्रेणी में आता है। इसमें जलाशय-मात्र में

---

१८. पुरा सरसि मानसे विकचसारसालीस्खलत्
परागसुरभीकृते पयसि यस्य यातं वयः ।
स पल्वलजलेऽधुना मिलदनेकभेकाकुले
मरालकुलनायकः कथय रे कथं वर्तताम् ॥

१९. तरौ तीरोद्भूते क्वचिदपि दलाच्छादिततनुः।
पतद्धारासारां गमय विषमां प्रावृषमिमाम्
निवृत्तायां तस्यां सरसि सरसोत्फुल्लनयने
स एव त्वं हंसः पुनरपि विलासास्त इह ते।

२०. अनुसंधानशून्यस्य भूषणं दूषणायते
सावधानस्य च कवेर्दूषणं भूषणायते।
—काव्यमीमांसा १८ अध्याय

हंस का वर्णन करना उल्लिखित है। इसका अर्थ यह हुआ कि यद्यपि राजशेखर के अनुसंधान से यह सिद्ध हुआ था कि हंस सभी जलाशयों में नहीं पाए जाते, तथापि परंपरा-क्रम से वर्णित होते आने के कारण कविगण ऐसा वर्णन कर सकते हैं[२१]। हंस के विषय में राजशेखर ने सिर्फ़ यही एक प्रसिद्धि बताई है। उसके दुग्ध और जल के विषय में प्रसिद्ध उक्ति को छुआ ही नहीं। अर्थात् राजशेखर के मत से हंस का नीर-क्षीर-विवेक वस्तुतः सच्ची बात है, उसके जलाशय–मात्र में अवस्थान के समान परंपरा-क्रमागत 'असतो निबंधनं' नहीं है। हंस के प्रशंसक संस्कृत कवि ने गर्व के साथ कहा था कि विधाता बड़ा नाराज़ होगा तो हंस का कमलिनी के वनवाला विलास नष्ट कर देगा, किन्तु इसकी जो नीर-क्षीर-विवेक की वैदग्ध्य-कीर्ति है, उसे थोड़े ही नष्ट कर सकेगा[२२]! बिचारा बगुला हंस के सभी गुणों का अधिकारी है; शरीर निर्मल कमल वन में निवास, मंद-गमन, मनोहर वाणी, पर हाय, सब होने से ही

---

२१. राजशेखर ने काव्यमीमांसा में इस प्रसंग पर कहा है :—

तत्र सामान्यस्यासतोनिबन्धनं यथा नदीषु पद्मोत्पलादीनि,
जलाशयमात्रेपि हंसादयः...
सलिलमात्रे हंसा यथा—
आसीदस्ति भविष्यतीह स जनो धन्यो धनी धार्मिकः
यः श्रीकेशववत्करिष्यति पुनः श्रीमत्कुडंगेश्वरम् ।
हेलान्दोलित हंस–सारसकुल क्रेंकारसम्मूर्च्छितै-
रित्याघोषयतीव यन्नवनदी यच्चेष्टितं वीचिभिः ।

—काव्यमीमांसा १४ अ०

२२. अम्भोजिनीवनविलासनमेव हंत, हंसस्य हन्ति नितरां
कुपितो विधाता ।
न त्वस्य दुग्धजलभेदविधौ प्रसिद्धा वैदग्ध्यकीर्तिम–
पहर्तुमसौ समर्थः ।

भला क्या होता है ? वह नीर-क्षीर-विवेक की शक्ति कहाँ से पावे[२३] ? अरे भलेमानस बकुलटे ! गंगा-तट पर निमीलित नयन होकर जो मानसरोवर जाने की आकांक्षा से तू तप कर रहा है, सो तो ठीक है ही नहीं, साथ ही यह भी तो याद रख कि उस मानस पदवी तक नीर-क्षीर के विवेक में निर्मल बुद्धिवाले हंस की ही गति है, और किसी की नहीं[२४] ।

ऐसा जान पड़ता है कि हंस के इस महागुण के सम्बन्ध में भारतवर्ष के दीर्घ इतिहास में कभी सन्देह नहीं किया गया । सन्देह करना ख़र्चीला भी है । चार कटोरे दूध तो मेरे एक मित्र ने ही बतख़ों को पिलाया है पर बेकार । बतख़ तो राजहंस नहीं हैं । सब दूध पी जाते हैं और पीने के साथ ही एक तरह का लार कटोरे में गिरा जाते हैं । शायद राजहंस भी ऐसा ही करते हों और वह लार ही दूध में का पानी मान लिया गया हो । पर जब तक आदरणीय पं० श्रीराम शर्मा मानसरोवर जाकर राजहंसों को पकड़ नहीं लाते तब तक तो इस विषय में कुछ कहना व्यर्थ ही है ।

मोर, मेंढक और बगुले—ये हंस के प्रकरण में भारतीय कवियों द्वारा सर्वाधिक लांछित जन्तु हैं । इनमें अन्तिम दो को तो शायद संस्कृत कवि कभी याद ही न करता यदि हंसों की महिमा उसे पूरे ज़ोर से हृदयंगम करा देने की ज़रूरत महसूस न हुई होती । वर्षा ऋतु के अन्त

---

२३. नैर्मल्यं वपुषस्तवास्ति वसतिः पद्माकरे जायते
मंदं याहि मनोरमां वद गिर मौनं च सम्पादय ।
धन्यस्त्वं वक, राजहंसपदवीं प्राप्तोऽसि किं तैर्गुणै
नीरक्षीरविभागकर्मनिपुणा शक्तिः कथं लभ्यते ।

२४. रे रे शिष्ट बकोट, नाकतटिनीतीरे तपस्विव्रतं
ध्यानेनानिमिषोपभोगमनसा युक्तं करोषीदृशम् ।
एवं यत् किल मानसस्य पदवींकांक्षस्ययुक्तं हि तत्
नीरक्षीरविवेकनिर्मलधियो हंसस्य, नान्यस्य सा ॥

में शरदागम के समय मयूरों के पुच्छ (वर्ह) झड़ जाते हैं, उनका नाचना कम हो जाता है और वे दीन हो जाते हैं[२५]। जुलाई से सितम्बर तक इनकी गर्भाधान-ऋतु होता है। इसके बाद ये हतोल्लास हो जाते हैं। संयोगवश यही समय हंसों के आने और हर्षोत्फुल्ल होकर आनन्द करने का है। आदि-कवि ने मयूरों की इस दीनावस्था का बड़ा करुण चित्र खींचा है। उन्होंने यह भी लक्ष्य किया है कि ये मयूर मानों सारसों से लांछित होकर ही विमना (उदास और म्लान) हो गए हैं[२६]। ख़ैर, यह तो समय है जो किसी को बलवान् और किसी को निर्बल बना देता है। शरत्काल में हंस की आवाज़ रमणीय हो गई और बिचारे मयूर की कर्कश[२७]। शत्रुकृत पराभव सचमुच ही दुःसह है। इन धवल-पक्ष विहंगमों के कूजन से बिचारे मोर की मधुर ध्वनि ही नहीं जीत ली गई उनके मनोहर वर्हभार भी स्खलित हो गए[२८]! पर यह मोर तो फिर भी हारा हुआ वीर है। इसकी क़द्र अब भी है। इसका वर्ह जब स्खलित होकर गिर जाता है—वर्ह, जिसपर ज्योतिर्लेखा का वलय होता है—तो भवानी अपने उन सुन्दर-सुन्दर कानों में पहन लेती हैं जिन तक कुवलय-दल

---

२५. नभः समीक्ष्यांबुधरैर्विमुक्तं विमुक्तवर्हाभरणा वनेषु।
    प्रियास्वरक्ता विनिवृत्तशोभाः गतोत्सवा ध्यानपरा मयूराः।

—रामायण ४।३०।३३

२६. त्यक्त्वा वराण्यात्मविभूषितानि वर्हाणि तीरोपगता नदीनाम्
    निर्भर्त्स्यमाना इव सारसौघैः प्रयान्ति दीनां विमना मयूराः।

—रामायण ४।३०।४०

२७. समय एव करोति बलाबलं प्रणिगदन्त इतीव शरीरिणाम्।
    शरदि हंसरवाः परुषीकृतस्वरमयूरमयूरमणीयताम्॥
२८. तनुरुहाणि पुरोविजितध्वनेर्धवलपक्षविहंगमकूजितैः
    जगलुरक्षमयेव शिखंडिनः परिभवोऽरिभवो हि सुदुःसहः।

की ही गति है[२९] ! इसके पराभव में भी एक गौरव है। इसके स्खलित वहं का भी एक मान है, पर ये बिचारे ग़रीब मेंढक और बक ! '

हंस को ज़रा रास्ते से इधर-उधर हटते देखा नहीं कि संस्कृत के कवि चारों ओर से चिल्ला उठे अरे भई राजहंस, सावधान, यहाँ न आना। यह जो बक है वही यहाँ राजहंस बना बैठा है, पीछे लौट जाओ, अपनी भूमि को ही चले जाओ। जल्दी करो, कहीं यहाँ के मूर्ख लोग बक से कुछ कह न आवें[३०]। एक दूसरे ने आवाज़ दी—भाई हंस, यहाँ वह गाम्भीर्य नहीं है, सौ सौ जालियों ने नीर घेर रखा है; जल्दी उठो भागो यहाँ से। तभी तक इज़्ज़त-आबरू बची है, जब तक यह वाचाल बक जिसका शरीर कीचड़ में लोटते रहने से गंदला हो गया है सिर पर पैर नहीं रख देता[३१] ! कुछ थोड़ा दोष इन बगुलों का भी है। एक हंस मानसरोवर से पहुँचा। उन्होंने उसे घेरकर पूछना शुरू किया "क्योंजी लाल चोंच और लाल पैरोंवाले छबीलेराम, कहाँ से आ रहे हो ?" "मानसरोवर से।" "बहुत खूब। भला वहाँ होता क्या है ?" "यही सुवर्ण पंकज के वन, अमृत-समान जल, रत्न की ढेरी, प्रवाल मणियाँ,

---

२९. ज्योतिर्लेखावलयि गलितं यस्य बर्हं भवानी
पुत्रप्रेम्णा कुवलयदलप्रापि कर्णे करोति ॥

—मेघ० २।४५

३०. रे राजहंस किमिति त्वमिहागतोऽसि योऽसौ बकः स इह
हंस इति प्रतीतः।
तद्गम्यतामनुपदेन पुनः स्वभूमौ यावद्वदन्ति न बकं खलु
मूढलोकाः ॥

३१. गतं तद् गाम्भीर्यं तटमपि चितं जालिकशतैः
सखे हंसोत्तिष्ठ त्वरितममुतो गच्छ सरसः।
न यावत्संक्रान्तःकलुषिततनुर्भूरिविलसद्
बकोऽसौ वाचालश्चरणयुगलं मूर्ध्नि कुरुते ॥

वैदूर्य के प्ररोह।" "अच्छा ! भला घोंघे भी वहाँ हैं ?" "नहीं।" "अरे यह भी नहीं ! हा हा हा हा[३२] !!" अब इन वकों की मूर्खता का क्या कहा जाय। खैर मेंढक की दुर्दशा तो हम कुछ देख चुके हैं (टिप्पणी १८ देखिये)। उसकी अधिक चर्चा न करके एक और अभागे पक्षी–टिट्टिभ–की याद कर लें, जो निरीह–जन्तु खाहमखाह इस के प्रसंग में घसीटकर मुइज्जत किया गया है। कवि को इस कल्पित–दृश्य से कुछ भी विस्मय नहीं हुआ कि एक दिव्य–कमल–विलोल–तरंगसमत्त–मधुप–मुखरित मानसरोवर का राजहंस ग़लती से एक क्यारी के पानी में मौज करने आ गया था और आते ही अगुणज्ञ असभ्य–टिट्टिभ ने उसकी गर्दन पर पैर रख दिया था[३३] !

कलहंस भारतीय–साहित्य का सर्वव्यापक प्राण है। ज्योतिष और गणित–जैसे अत्यन्त रूखे विषय में भी इन केलि–परायण कलहंसों ने रस का संचार किया है। भास्कराचार्य की लिखी प्रसिद्ध अंकगणित की पुस्तक लीलावती में एक प्रश्न अत्यन्त सरस काव्य–भाषा में इस प्रकार है—हे बाले; मैंने सरोवर में मरालों का जो समूह देखा था उसकी सम्पूर्ण संख्या के वर्गमूल का साढ़े तीन गुना हंस तीर पर विलास–भार से

---

३२. कस्त्वं रोहितलोचनास्यचरणो ? हंसः, कुतः ? मानसात्,
किं तत्रास्ति ? सुवर्णपंकजवनान्यम्भःसुधासन्निभम् ;
रत्नानां निचयाः प्रवालमणयो वैदूर्यरोहाः, क्वचित्
शंबूका अपि सन्ति ? नेति च वकैराकर्ण्य ही ही कृतम्।

३३. यो दिव्याम्बुजलोलमत्तमधुपप्रोद्गीतरम्यं सरः
त्यक्त्वा मानसमल्पवारिणि रति-बध्नाति कैदारिके
तस्यालीकसुखाशया परिभवक्रोडीकृतस्याधुना
हंसस्योपरि टिट्टिभो यदि पद धत्तेऽत्र को विस्मयः ?

अत्यन्त मन्थर-गति से टहलते हुए देखे। केलि-कलह-रत एक जोड़ा कलहंस-सरोवर में ही दिख रहा है बताओ मरालों की संख्या क्या है[34]?

इस प्रकार समूचे भारतीय-साहित्य और शिल्प में हंस महत्त्वपूर्ण स्थान का अधिकारी है। वह प्रेम और वैराग्य, ज्ञान और शौर्य, विवेक और विचार, धर्म और नीति सभी विषयों में समादृत है। कमलवन के बीच वह विहार करता है। सुवर्ण रज से उसके पक्ष पिंगलीभूत हैं. नीर-क्षीर-विवेक का वह प्रतीक है, कालुष्य का वह विरोधी है और पक्षि-जगत् का अमल-धवल परमहंस है। यद्यपि कमल-मंडित पानी सर्वत्र है, तथापि हंस का मानस मानसरोवर के बिना कहीं रमता नहीं[35]। ये जहाँ भी रहें वहीं पृथ्वी के भूषण होकर रहेंगे, हानि तो उन सरोवरों की होगी जिनका उनसे वियोग हो जाएगा[36]। इसी प्रकार जिस साहित्य में हंस नहीं, उसीका नुक़सान है, वे तो जहाँ जाएँगे वहीं साहित्य के सनातन शृंगार होकर रहेंगे।

— ['विशाल-भारत' नवम्बर १९४०]

---

३४. बाले मरालकुलमूलदलानि सप्त तीरे विलासभरमंथरगाण्यपश्यम्।
कुर्वच्च केलिकलहं कलहंसयुग्मं शेषं जले वद मरालकुलप्रमाणम्।
—लीलावती

३५. अस्ति यद्यपि सर्वत्र नीरं नीरजमंडितम्।
रमते न मरालस्य मानसं मानसं बिना।

३६. यत्रापि कुत्रापि भवति हंसाः, हंसा महीमंडलमण्डनानि।
हानिस्तु तेषां हि सरोवराणां येषां मरालैः सह विप्रयोगः॥

१२

शव–साधना

कई बार मेरे मन में यह बात आई है कि प्राचीन युग के अध्येता जिस महान् तांत्रिक साधना में लगे हैं उसका रहस्य क्या हमें मालूम है? कुछको ज़रूर मालूम होगा, सब तो शायद नहीं जानते।

जड़ तत्त्वों का सर्वाधिक सामञ्जस्य-पूर्ण संघात मनुष्य का शरीर है। जब तक उसमें जीवात्मा का संयोग वर्तमान रहता है तब तक वह विशुद्ध जड़ तत्त्व नहीं कहा जा सकता; परन्तु जब जीव उसमें से निकल जाता है तो साथ ही साथ मन, बुद्धि आदि तत्त्व भी उसमें से निकल जाते हैं, यहाँ तक कि प्राण–वायु के दस भेदों में से केवल एक धनञ्जय को छोड़कर बाक़ी नौ भी निकल जाते हैं। उस समय शव सम्पूर्ण क्रियाहीन, राग–विराग से रहित, इच्छा–द्वेष से विनिर्मुक्त, धर्म–अधर्म से परे हो जाता है। वह साक्षात् आनन्द–भैरव का प्रतीक होता है। साधक जब शिवानन्द और परमानन्द की अवस्था में होता है तब वह इसी प्रकार इच्छा-द्वेष, राग-विराग, धर्म–अधर्म से परे एक अनुभवैकगम्य अवस्था में होता है। उस साधक से इस शव का भेद है, परन्तु जो शक्ति में विश्वास करते हैं वे जानते हैं कि उचित संघात ही नई–नई शक्तियों का जन्मदाता है। शव में वह संघात प्राय: पूर्ण है; इसीलिये शाक्त साधक शव को साधना का उत्तम साधन मानते हैं। इस शव का परिपूर्ण जड़संघात होना आवश्यक है। रोग से, व्याधि से, ज़हर खाकर और मानसिक सन्ताप से कातर होकर जिसने प्राण खोए हैं, उसका शव ग्रहणीय नहीं होता। युद्ध में लड़ते-लड़ते जो मरा, उल्लास के साथ जिसने अपने को बलि कर दिया है, जीवितावस्था में जिसके चेहरे पर कभी शिकन नहीं पड़ी, उसीका शव–साधना में ग्रहणीय माना गया

है। यह शव निष्क्रिय शिव का उत्तम प्रतीक है, साधक चण्डिका के संचार से उसे सक्रिय बनाता है। शुरू में ही वह शव की स्तुति करता है—

वीरेश परमानन्द शिवानन्द कुलेश्वर
आनन्दभैरवाकार देवीपर्यंङ्क शङ्कर
वीरोऽहं त्वां प्रपद्यामि उत्तिष्ठ चण्डिकार्चने।

(भावचूड़ामणि)

मुझे एक तांत्रिक साधक ने बताया है कि शव का मुँह नीचे कर दिया जाता है और साधक उसकी पीठ पर बैठकर विविध मन्त्रों का जप करता है। सिद्धि प्राप्त होने के पहले अनेक विघ्न होते हैं। जो साधक डर जाता है वह नष्ट हो जाता है, परन्तु जो विचलित नहीं होता वह अन्त में विजयी होता है। जब शव-देह में चण्डिका का आवेश होता है तो उसका मुँह घूमकर साधक की ओर हो जाता है और साधक से वह बातचीत करने लगता है; उस शव के मुख से ही चण्डिका साधक को वर देती हैं। परन्तु तांत्रिक ग्रन्थों में बताया गया है कि शव जैसे का तैसा पड़ा रहता है, आकाश में देवता नाना भाँति के प्रलोभन के वाक्य उच्चारण करते हैं। साधक अविचलित रहकर उन्हें प्रतिज्ञापाश में बद्ध करता है और तब कहीं जाकर सिद्धि प्राप्त होती है। यह स्मरण रखना चाहिए कि जो साधक जड़संघात के सर्वोत्तम मूर्त्तरूप इस शव के गठन को ठीक-ठीक जानता है वही सिद्धि पाता है। शव जीवित नहीं होता परन्तु तन्त्र ग्रन्थ में बताया गया है कि प्रसन्न होने पर शव जो कुछ दे सकता है वह कोई जीवित व्यक्ति नहीं दे सकता, क्योंकि शव साक्षात् निष्क्रिय शिव का स्वरूप है। वह इच्छा-द्वेष से परे, परमानन्दस्वरूप है। वह उस शंकर (निष्क्रिय) का प्रतीक है जो देवी के विकराल ताण्डव के पादपीठ हैं।

शव-साधना का महान् साधन

मैं जब-जब अपने देश के प्राचीन आचार-विचार और क्रियाकलाप के अध्येताओं को देखता हूँ तब-तब मुझे इस तान्त्रिक शव साधना की

बात याद आती है। शवसाधक शव को ही अपना लक्ष्य नहीं मानता, परन्तु फिर भी शव का कितना आदर उसके चित्त में होता है। मरे हुए ज़माने की पीठ पर बैठकर जो पण्डित आज ज्ञान की साधना कर रहे हैं वे भी उस प्राचीन मरे हुए काल को उतना ही महत्त्वपूर्ण मानते हैं। वह युग हमें दण्ड नहीं दे सकता, उस युग का उदार नरेश किसी पण्डित को प्रति अक्षर पर लक्ष-लक्ष का दान नहीं दे सकता, उस युग की कोई सुन्दरी अपने विच्छित्ति-शेष वर्णों से—सिंगारदान के बचे हुए रङ्गों से—अपने अंचल पर हमारी यशोगाथा नहीं लिखती, उस युग का कोई हूण हमारे नगरों और शस्यक्षेत्रों को आग में नहीं झुलस देता,—वस्तुतः उस युग का ईर्ष्या-द्वेष, राग-विराग, धर्म-अधर्म हमें स्पर्श नहीं कर सकता। और फिर भी वह युग हमें आनन्द के अद्भुत लोक में उपस्थित कर देता है, हमारी नस-नस में एक अपूर्व भाव-सौंदर्य उज्जीवित कर देता है। उस युग में कोई क्रिया नहीं है। बड़े-बड़े विशाल मन्दिर, जयस्तम्भ, राजप्रासार और दुर्गप्राकार इस प्रकार खड़े हुए हैं मानो हँसते-खेलते उन्हें बिजली मार गई हो, मानो सम्मुख युद्ध में उन्हें किसीने काट डाला हो। शव-साधना का इतना बड़ा साधन कहाँ मिलेगा?

साधना का लक्ष्य

परन्तु हमारे प्राचीन ज्ञान का लक्ष्य क्या सभी साधकों को मालूम है? प्राचीन युग मर चुका है, वह जी नहीं सकता, फिर भी उसकी अच्छी जानकारी हुए बिना हमें सिद्धि नहीं मिल सकती। जितना ही हम उसे समझेंगे उतना ही स्पष्ट होगा कि यह निष्क्रिय शिव आनन्द भैरवाकार है, परमानन्दस्वरूप है क्योंकि इसके भीतर से हम जो आनन्द पाते हैं वह इच्छा-द्वेष से परे, राग-विराग से विनिर्मुक्त है। परन्तु वह समूचा युग एक साधन है। यदि इस युग का लक्ष्य वह युग ही है तो साधना अधूरी है। पुराने युग के मृत शव पर बैठा हुआ ज्ञानी साधक आकाश से सिद्धि पाएगा। शास्त्रज्ञान का लक्ष्य शास्त्रज्ञान नहीं है। इस प्राचीन युग के आचार-विचार के अध्ययन का लक्ष्य वह आचार-

विचार ही नहीं है; लक्ष्य है भविष्य का युग । यदि हमारे समूचे प्राक्तन तत्त्वों का ज्ञान हमारे भविष्य के निर्माण में सहायक नहीं होता तो वह बेकार है । शव-देह में शक्ति-संचार होने से ही भावी सिद्धि प्राप्त होती है । शव-देह की अच्छी जानकारी हर हालत में आपेक्षित है । इसी प्रकार हमारे प्राचीन शास्त्रों, रीतियों, क्रियाओं आचारों के अध्ययन का लक्ष्य भविष्य में होना चाहिए । यदि कोई पण्डित समझता है कि पुराना ज़माना जी जायगा, पुराने आचार फिर से प्रचलित हो जायँगे, पुराना गौरव फिर पनप उठेगा तो उसने अपनी साधना का रहस्य नहीं समझा है । इन सब कुछ का लक्ष्य है इस युग के कोटि-कोटि मनुष्यों को परमुखापेक्षिता, दरिद्रता, अज्ञान और शोषण से मुक्त करना । यह क्या सम्भव है ?

युग पर अधिकार

शव की पीठ पर मन्त्र-तन्त्र से चाहे जितनी साधना की जाय, जब तक उसका मुख साधक की ओर नहीं होता, तब तक समझना चाहिए कि साधक सिद्धि के निकट नहीं आया है; शव तब भी शव ही है, उसमें शक्ति का संचार नहीं हुआ है । शव की साधना तभी पूर्ण होती है जब उसका मुख साधक के सामने होता है, वह उससे जीवित मनुष्य की भाँति बात करता है । प्राचीन ज्ञान-विज्ञान के साधक को यह बात याद रखनी होती है । हम ऐसे साधकों को जानते हैं जिन्होंने अपने गम्भीर अध्यवसाय से प्राचीन युग का मुख अपनी ओर फेर लिया है । तुलसीदास ऐसे ही साधक थे । उन्होंने जो कुछ पढ़ा, गुना, उसे निःशेष भाव से भविष्य के निर्माण में लगा दिया । केवल ज्ञान भार है यदि वह मुक्ति की ओर नहीं ले जाता । वह भी बाह्याचार मात्र है, मृत है । ज्ञान का फल मुक्ति है । प्राचीन ज्ञान के उपासकों में से थोड़े ही इस रहस्य को समझ पाते हैं । मुक्ति किससे ? जड़ता से, अज्ञान से, परमुखापेक्षिता से, दम्भ से, अहंकार से, दासत्व से । ज्ञान का लक्ष्य यही है ।

उत्तम शव-साधना

हमारा यह देश नौसिखुआ नहीं है। उसके ज्ञान-विज्ञान का इतिहास विशाल है। उसके खोहों और भग्नावशेषों में प्रेरणा का समुद्र लहरा रहा है। यह हमारा परम सौभाग्य है कि जड़तत्त्वों के इतने परिपूर्ण संघात हमारी साधना के लिये देश के कोने-कोने में बिखरे पड़े हैं। अन्य किसी भी देश को शायद ही इतनी परिपूर्ण साधन-सामग्री प्राप्त हो। हम यदि निष्ठा और प्रेम के साथ इस सम्पूर्ण सामग्री का उपयोग भविष्य-निर्माण के लिये करें, तभी कल्याण है। केवल इन सामग्रियों को ही लक्ष्य मान लेना ग़लती है। इनके ज्ञानमात्र से सिद्धि नहीं मिलेगी, यद्यपि इनकी सूक्ष्म और ठीक-ठीक जानकारी परम आवश्यक है। प्राचीनता का अध्ययन उत्तम शव-साधना है। उसमें पद-पद पर सावधानी की आवश्यकता है, प्रतिक्षण अपने लक्ष्य को याद रखने की आवश्यकता है और सदा-सर्वदा कठोर संयम और अपार साहस का होना ज़रूरी है।

—[साप्ताहिक-'आज', २६ जून '४४]

१३

'सत्य का महसूल'

ग्यारह वर्षों तक लगातार रवीन्द्रनाथ—जैसे महापुरुष के संसर्ग में रहना सौभाग्य की बात ही कही जायगी। मुझे यह सौभाग्य मिला था। जानकर और अनजान में मैंने उनसे कितना लिया है इसका कुछ हिसाब नहीं है, किन्तु जब सोचकर कोई संस्मरण लिखने का अवसर आता है तो कुछ भी स्पष्ट याद नहीं आता। केवल एक ही बात रह-रहकर मस्तिष्क को छाप लेती है—उनका सहज प्रसन्न मुखमण्डल, स्नेहमेदुर बड़ी बड़ी आँखें और अनन्य-साधारण मन्द हास्य। मुश्किल से दो-चार अवसर ऐसे आए होंगे जब उनके मत के विरुद्ध कुछ कहना पड़ा हो और उन्होंने स्नेहपूर्वक झिड़ककर मेरी ग़लती दिखा दी हो। ये दो-चार अवसर कुछ स्पष्ट याद हैं क्योंकि इन अवसरों पर मानस-पटल पर से उनके व्यक्तित्व का प्रभाव शिथिल हो गया होता था और झटका खाने के कारण वह सचेत हो गया होता था। एक ऐसे ही अवसर की बात आज याद आ रही है।

गुरुदेव ने (हम लोग उन्हें इसी नाम से जानते थे) एक पुस्तक लिखी थी, बँगला भाषा के व्याकरण के सम्बन्ध में। कम लोग ही जानते होंगे कि उन्हें भाषाशास्त्र, व्याकरणशास्त्र और कोषग्रन्थों के अध्ययन में बड़ा रस मिलता था। केलॉग का हिन्दी व्याकरण और हॉर्नेल का गौड़ीय व्याकरण उन्हें हस्तामलक के समान थे। विश्वभारती—ग्रन्थागार में इन पुस्तकों की जो प्रतियाँ सुरक्षित हैं उनपर उनके हाथ के लिखे नोट हैं। जिस समय की बात कह रहा हूँ उस समय गर्मी की छुट्टियाँ चल रही थीं। आश्रम में बहुत कम लोग रह गए थे। उस वर्ष मैं भी बाहर नहीं गया था। पुस्तक की पाण्डुलिपि समाप्त करके गुरुदेव ने मुझे

देखने को दी थी। उस पुस्तक में कई हिन्दी शब्दों और प्रत्ययों के साथ बँगला शब्दों और प्रत्ययों की तुलना की गई थी। गुरुदेव की आज्ञा थी कि मैं उन शब्दों को अच्छी तरह देख लूँ और अपनी राय निस्संकोच उनको बता दूँ। मैंने पुस्तक ध्यान से पढ़ी थी और उसके दो-एक शब्दों के हिन्दी होने में मुझे सन्देह हुआ था, यह बात मैंने नम्रतापूर्वक निवेदन कर दी थी। गुरुदेव ने प्रेमपूर्वक और आग्रह के साथ मेरी बात सुनी। शब्दों पर निशान बना लिया और उस दिन उनके बारे में विशेष कुछ बात नहीं हुई।

२

दूसरे दिन आकाश बादलों से भर गया। दिगन्त के इस छोर से उस छोर तक काले मसृण मेघों से अन्तरिक्ष आच्छादित हो गया। धारासार वर्षा हुई और साथ ही साथ प्रचण्ड आँधी भी आई। मेघ और आँधी के सम्मिलित घूत्कार से दिङ्मण्डल प्रकम्पित होता रहा। क्लेशकर ऊष्मा के बाद यह वृष्टि यद्यपि काफ़ी सुहावनी मालूम होती थी पर उसने पेड़-पौधों और कच्चे मकानों को बहुत नुक़सान पहुँचाया। मैं खिड़की-दरवाज़े बन्द करके चुपचाप बैठा हुआ था। वृष्टि अब भी हो रही थी पर आँधी का वेग शान्त हो चला था। मेरे द्वार पर आघात करते हुए किसी ने आवाज़ दी, 'पण्डितजी!' दरवाज़ा खोलता हूँ तो सामने महादेव खड़ा है। इस समय घर से बाहर निकलने का साहस और किसे हो सकता था! महादेव गुरुदेव का सेवक है, उसके लिये कोई कार्य असाध्य नहीं। हुक्म मिलने की देर होती और महादेव काम करके हाज़िर। किसी को बुलाने जाकर महादेव तब तक नहीं लौट सकता जब तक वह व्यक्ति सशरीर उपस्थित न हो जाय। महादेव गुरुदेव की आज्ञा लेकर वर्षा के कुछ पूर्व रवाना हुआ था, परन्तु वृष्टि और आँधी इतनी तेज़ थी कि उसे भी कहीं रुक जाना पड़ा था; सो काफ़ी देर हो जाने के कारण उसकी व्याकुलता और भी बढ़ गई थी। बिना किसी भूमिका के उसने कहा—गुरुदेव बाबू बड़ी देर से आपको बुला रहे हैं।

जल्दी चलिए। – मैं भी हड़बड़ाया। इस समय आश्रम में थोड़े ही लोग हैं, इस आँधी-पानी में ज़रूर वृद्ध गुरुदेव को कोई आवश्यकता होगी नहीं तो क्यों उन्होंने जल्दी-जल्दी मुझे बुलाया है। महादेव किसी और को कोई सन्देशा पहुँचाने के लिये आगे बढ़ा और मुझे ललकारता गया—'देर न करें बाबू, मैं बहुत पहले चला था'। मैंने मन में तरह-तरह की आशंका की। जल्दी से कुरता डाला और छाता ऐसा उठाया कि जो पानी से पहले ही बरस पड़ता था, अतएव उसे रख देना पड़ा। एक चादर सिर पर रखके भागा।

आकर देखा, गुरुदेव आनन्दित हैं। मेघों की मसृण मेदुरता और उत्क्षिप्त वायु का विलोल नर्तन उन्हें मस्त बना देता था। वे दक्खिन की ओर मुँह करके प्रसन्न भाव से आराम कुर्सी पर लेटे हुए थे और प्रसारित चरणों को थोड़ा हिला रहे थे। वे प्रकृति के उन्माद से छके हुए जान पड़ते थे। उन्हें देखकर मेरे मन से आशंका के भाव तो जाते रहे पर उत्सुकता बढ़ गई— इस समय मुझे क्यों बुलाया गया है? क्या इस महान् साधना का मध्यम साधक मुझे ही बनना है? मैं धीरे-धीरे उनके सामने गया, प्रणाम किया और एक मोढ़ा खींचकर बैठने लगा। गुरुदेव ने क्षण भर तक मुझे आश्चर्य के साथ देखा, फिर ज़रा भर्त्सना-सी करते हुए कहा—इस आँधी-पानी में तुम भीगते भीगते क्यों आए? मैंने तुम्हें इसी समय बुलाया था? जाओ, भीतर जाओ, कोई कपड़ा ओढ़ आओ। मैंने नम्रतापूर्वक बताया कि मुझे ठण्ड नहीं लग रही है और चादर मेरे पास है। फिर एक कुर्सी की ओर इशारा करके बोले—पैर ढककर उसपर बैठो। मैंने वैसा ही किया। थोड़ी देर तक गुरुदेव फिर आसमान की ओर देखते रहे। फिर बोले, मैंने जब तुम्हें बुलाने को कहा था उस समय पानी आने का कोई लक्षण नहीं था। अब ऐसे सुन्दर समय में तुम अनुस्वार-विसर्ग शुरू करोगे।—इसी तरह की बातें वे कुछ देर तक करते रहे, फिर स्वयं धीरे धीरे प्रकृत विषय पर आए। मैंने जिन शब्दों के बारे में सन्देह किया था वे चन्दबरदाई के पृथ्वीराज रासो में

व्यवहृत हुए थे और हॉर्नेल ने अपने गौड़ीय व्याकरण में उनका हवाला दिया था। गौड़ीय व्याकरण का वह अंश दिखाते हुए गुरुदेव ने विनोद के साथ कहा—देखा, पढ़ा-लिखा नहीं हूँ तो क्या हुआ? बात निराधार नहीं लिखता।—अपने नहीं पढ़ने-लिखने के बारे में वे प्रायः ही विनोदपूर्ण चुटकियाँ लिया करते थे। परन्तु हम लोग जानते थे कि इस 'बिना पढ़े-लिखे आदमी' का अध्ययन कितना व्यापक और गम्भीर है। उनके विनोद में आधुनिक पढ़ाई लिखाई पर भी शायद एक प्रच्छन्न व्यंग रहा करता होगा। थोड़ी देर तक व्याकरण पर कुछ बातचीत होती रही, फिर पाणिनि पर और फिर भारतवर्ष के सन्देश पर बात जम गई।

३

बाहर आकाश की रिमझिम तब भी जारी थी। हमारे सामने आँधी से आलोड़ित और वर्षा से प्लावित पुष्प-लताएँ शान्त भाव से उस शामक रिमझिम का आनन्द ले रही थीं; नारियल के पेड़ चुपचाप आकाश की ओर कृतज्ञ दृष्टि से देख रहे थे और लाल कंकड़ों से आच्छादित अरुण-भूमि प्रसन्न दिखाई दे रही थी। दूर एकाध झाऊ के पेड़ भीगी सनसनाहट से कभी-कभी निस्तब्धता को चीर देते थे। धीरे धीरे गुरुदेव मुझे अपनी बात समझा रहे थे। वे शुरू से आखिर तक सचेत कलाकार थे। असंयत भाव से, जैसे-तैसे किसी बात को कह देना उन्हें कभी पसंद नहीं था। सभी अवस्थाओं में सभी बातें वे सँवारकर, सुन्दर और सहज बनाकर कहते थे। उनके डाँटने में भी स्निग्धता रहती थी। मुझे ठीक स्मरण नहीं आ रहा कि भारतवर्ष की स्वाधीनता और विश्व को उसका क्या सन्देश है—इत्यादि बातें कैसे उठ गईं। शायद मैंने कह दिया था कि भारतवर्ष शीघ्र ही स्वाधीन होगा और उसे विश्व के पुनर्निर्माण में हिस्सा लेना पड़ेगा। उस दिन के लिये भारतवर्ष को अब से ही तैयार हो जाना चाहिए।—कुछ ऐसी ही बातें मैंने कही होंगी। गुरुदेव ने स्वयं 'साधना' में भारतवर्ष के इस सन्देश की बात कही है, ऐसी मेरी धारणा थी। मुझे याद है कि उन्होंने प्रेम से मेरी बात सुनी और शान्त भाव से उत्तर

दिया; इस बात के लिये तैयारी की ज़रूरत नहीं है। ज़रूरत इस बात की है कि भारतवर्ष तपस्या करके अपने को योग्य सिद्ध करे। यदि वह साधना करेगा, तपस्या करेगा तो संसार स्वयं उसका सन्देश सुनने के लिये उत्सुक होगा। आज भारतवर्ष में साधना का अभाव है, यदि आज वह स्वाधीन भी हो जाय तो सन्देश सुनाने की योग्यता उसमें अभी नहीं आएगी। गुलामी केवल राजनीतिक थोड़े ही है। वह तो उसकी नस नस में व्याप्त हो चली है। अभी तुमने दुःख पाया कहाँ है? अभी पुराने पापों का बहुत प्रायश्चित बाक़ी है।

मैंने उन बातों का कोई नोट नहीं रखा है और न मेरी स्मरण-शक्ति ही इतनी तेज़ है कि उन्हें ज्यों-का-त्यों उद्धृत कर सकूँ। परन्तु मुझे ख़ूब याद है कि उनकी बातें मुझे बिलकुल नये रास्ते सोचने को मजबूर कर सकी थीं। मैंने अनुभव किया कि भारतवर्ष यदि आज ही विश्व के दरबार में उपस्थित हो तो उसे अपनी बात सुनाने का मौक़ा ही नहीं दिया जाएगा। मैं यह बात उस महामानव के मुँह से सुन रहा था जिसका सन्देश सुनने के लिये पश्चिम और पूर्व की जनता समुद्र की भाँति उमड़ पड़ती थी, जिसने उपेक्षित और अपमानित भारत को गड्ढे से उठाकर पहाड़ की चोटी पर बैठा दिया था। भारतीय मनीषा के सर्वोत्तम अंश के प्रतिनिधि रवीन्द्रनाथ थे। और उन्हींके मुँह से मैंने क्या सुना? मेरा चित्त उस दिन कुछ अशान्त हो गया था यद्यपि मैं ऐसा आदमी अपनेको नहीं मानता जो शहर की चिन्ता में दुबला हो जाया करता है। मुझे वह सुहावना समय, वह भव्य मूर्ति और वे झकझोर देनेवाली बातें कल की सी मालूम हो रही हैं। उस दिन उन्होंने कुछ उत्तेजित होकर ही कहा था कि भारतीय समाज तब तक शक्ति-संचय नहीं कर सकता जब तक वह साहसपूर्वक सत्य को स्वीकार न कर ले; परन्तु तुम जानते हो, सत्य को स्वीकार करने का महसूल इस देश में कितना है? दीर्घकाल तक सच्चे मनुष्यों की बलि पाकर ही इस देश की शक्ति प्रसन्न हो सकती है। अभी तुमने बलि दी ही कहाँ है?

४

सं० १९६९ में उन्होंने एक आश्रमवासी के नाम पत्र लिखा था। उसमें ये ही बातें लिखी गई हैं। यह पत्र छप चुका है और उन्होंने ही इसे छापने की अनुमति भी दी थी। उसी पत्र से इस प्रसंग की बातें यहाँ उद्धृत की जा रही हैं। इस उद्धरण में ऊपर की बातें उन्हींकी भाषा में लिखी मिलेंगी। अनुवाद मेरा है।

......मनुष्य बनाने का जो सबसे बड़ा विद्यालय है वह हमारे लिये बन्द है। हमारे वर्तमान की ओर देखकर हमारी जीवन-यात्रा के प्रति उसकी कोई जिम्मेदारी नहीं रह गई है। किसी दिन किसी विशेष अवस्था में हमारे समाज ने किसीको ब्राह्मण, किसीको क्षत्रिय, किसीको वैश्य और किसीको शूद्र होने को कहा था। हमारे ऊपर उस समाज का यह कालोपयोगी दावा था, इसलिये इस दावे को लक्ष्य बनाकर शिक्षा-व्यवस्था ने विचित्र आकार में अपने आपकी सृष्टि स्वयं ही कर ली थी। क्योंकि सृष्टि का नियम ही यही है—एक मूलभाव का बीज जीवन के तक़ाज़े पर स्वयमेव अपनी शाखा-प्रशाखा फैलाकर अंकुरित-पल्लवित हो जाता है—बाहर से आकर कोई उसमें शाखा-प्रशाखा जोड़ नहीं देता। हमारे वर्तमान समाज का कोई सजीव दावा नहीं है। यहाँ वह मनुष्य से कहता है—ब्राह्मण बनो!—वह जो कुछ कह रहा है उसका ठीक-ठीक पालन कर सकना किसी प्रकार भी संभव नहीं है। इसका फल यह हुआ है कि मनुष्य उसे केवल बाहर से मान लेता है। ब्राह्मण का ब्रह्मचर्य नहीं रह गया है, सिर मुँडाकर तीन दिन के प्रहसन के बाद गले में जनेऊ धारण कर लेना पड़ता है। तपस्या के पवित्र जीवन की शिक्षा अब ब्राह्मण नहीं दे सकता, किन्तु पदधूलि देने के समय निस्संकोचरूप से उसके ैर सबके लिये खुले हुए हैं। इधर जातिभेद की मूल भित्ति वृत्तिभेद लुप्त हो चला है, फिर भी वर्णभेद के सभी बाहरी विधि-निषेध अचल होकर जहाँ के तहाँ जमे हुए हैं। पिंजड़े को उसके सभी सलाई-सींकचों के साथ मानना पड़ रहा है, हालाँ कि उसमें का पक्षी मर चुका है।

दाना-पानी हम नित्य जुटा रहे हैं, हालाँ कि वह किसी जीवधारी की ख़ूराक के काम नहीं आ रहा है।

'इसी प्रकार हमारे सामाजिक जीवन के साथ सामाजिक विधि का विच्छेद घटित हो जाने से हम जो अनावश्यक काल-विरोधी व्यवस्था द्वारा बाधा पा रहे हैं इतना ही नहीं है, बल्कि हम सामाजिक सत्य की रक्षा भी नहीं कर पा रहे हैं। हम मूल्य देते हैं और लेते हैं, फिर भी उसके बदले में कोई सत्य वस्तु नहीं पा रहे हैं। शिष्य गुरु को प्रणाम करके दक्षिणा चुका देता है किन्तु गुरु शिष्य का क़र्ज़ा चुका देने का कोई प्रयत्न भी नहीं करता। इसे स्वीकार करने में हम ज़रा भी लज्जा अनुभव नहीं करते कि बाहर का ठाठ बनाए रखना ही काफ़ी है, यहाँ तक कि हमें यह कहने में भी कोई संकोच नहीं होता कि व्यवहार में यथेच्छाचार करके भी प्रकाश्यरूप में उसे स्वीकार न करने में कोई नुक़सान नहीं है। ऐसी ज़िम्मेदारी मनुष्य को ग़रज़ से स्वीकार करनी पड़ती है। कारण यह है कि जब तुम्हारी श्रद्धा दूसरे रास्ते गई हो, तब भी यदि समाज कठोर शासन के द्वारा आचार को एक ही जगह बाँध रखे तो समाज के पन्द्रह आने आदमी मिथ्याचार का आश्रय लेने में लज्जा नहीं अनुभव करते।

'बात यह है कि मनुष्यों में वीरों की संख्या थोड़ी ही होती है; अतएव सत्य को प्रकाश्य रूप में स्वीकार करने का दण्ड जहाँ असह्य रूप से अत्यधिक है, वहाँ कपटाचार को अपराध मानने से काम नहीं चलता। इसीलिये हमारे देश में यह अद्भुत घटना प्रतिदिन देखी जाती है कि मनुष्य किसी बात को अच्छी कहकर अनायास ही स्वीकार कर लेता है और फिर भी दूसरे ही क्षण अम्लानवदन बना रहकर कह सकता है कि सामाजिक व्यवहार में मैं इसे पालन नहीं कर सकूँगा। हम भी जब सोचकर देखते हैं कि इस समाज में अपने सत्य विचार को कार्यरूप में परिणत करने का महसूल कितना अधिक है तो इस मिथ्याचार को क्षमा कर देते हैं।

'अतएव समाज ने जहाँ जीवन-प्रवाह के साथ अपने स्वास्थ्यकर सामञ्जस्य का पथ एकदम खुला नहीं रखा और इसीलिये पुराकाल की व्यवस्था पद-पद पर बाधा-स्वरूप होकर उसे बद्ध कर रही है, वहाँ मनुष्य की जो शिक्षाशाला सबसे अधिक स्वाभाविक और प्रशस्त है, वह हमारे लिए केवल बन्द ही नहीं है स्थिति उससे भी भयंकर है। वह है और फिर भी नहीं है, इसीलिये वह सत्य के लिये रास्ता नहीं छोड़ देती और मिथ्या को जमा कर रखती है। हमारा यह समाज गति को एकदम स्वीकार नहीं करना चाहता और इसीलिये स्थिति को कलुषित बना देता है!'

ठीक ही तो है। हमारे समाज में सत्य को स्वीकार करने का महसूल कितना कड़ा है! और बिना सत्य को स्वीकार किये क्या हम विश्व के दरबार में सिर ऊँचा करके खड़े हो सकेंगे?

—[साप्ताहिक—'आज', २९ नवम्बर '४३]

१४

गतिशील चिन्तन

स्टेशन की सीमा से बाहर निकलते ही एकाश्ववाही रथों के अनेक चाबुकधारी सारथी धावा बोल बैठे। एक भले आदमी ने चाबुकाग्र को बगल में दबाते हुए हाथ का सूटकेस खींच लिया। मैं अभी कुछ कहने जा ही रहा था कि एक दूसरे भीमकाय पुरुष-पुङ्गव ने ललकारते हुए उसे एक धक्का लगाया। 'खबरदार ! मेरी सवारी है'—इस हुँकार के साथ उसने पूर्वतन दस्यु को 'युद्धं देहि' की चुनौती दी। फिर मेरी ओर घूमकर बोला—बाबूजी सलाम ! इस बार तो बहुत दिन पर दरसन भया सरकार !—मैंने देखा, मेरा पुराना परिचित एक्केवान है। बोला—हाँ भई, तीन वर्ष पर लौट रहा हूँ। कुसल-छेम तो है न।

एक्केवान ने कहा—मेहरबानी है हजूर, आपकी दया से सब आनन्द मंगल है।

पूर्वतन दस्यु पहले तो कुछ गुर्राया, बाद को रंग-ढंग देखकर एकाध परुष वाक्य बाण के निक्षेप के बाद युद्ध से निरस्त हो गया। मेरा सारथी आगे-आगे चला, मैं पीछे हो लिया। एकाश्व-रथ सुसज्जित तैयार था। उसके छत्र और दण्ड यथेष्ट जीर्ण थे, पर पिछले दस वर्ष से वे मेरे परिचित हो गए थे। मैं रथी रूप में आसीन हुआ, सारथी ने अश्व के साथ अपना पिता-पुत्र सम्बन्ध स्मरण करते हुए चाबुक सँभाला।

नगर की सीमा पार करने के बाद मेरे रथ ने ग्राम-सीमा में प्रवेश किया। मुझे हज़ार-डेढ़-हज़ार वर्ष पहले की अवस्था याद आ गई। समुद्रगुप्त एक दिन इसी प्रकार रथ पर चढ़कर नगर से बाहर निकले होंगे। पौर-युवतियाँ गवाक्ष खोलकर अतृप्त नयनों से उन्हें देखती

रह गई होंगी; नागरिक कन्यायें क़तार बाँधकर मार्ग के दोनों ओर खड़ी हो रही होंगी; आचार-लाजों और वेदाध्यायी ब्राह्मणों के उत्क्षिप्त मांगल्य से राजमार्ग भर गया होगा।—मेरे लिये यह सब कुछ भी नहीं हुआ। समुद्रगुप्त के रथ में शायद चार घोड़े होंगे, उसके छत्र--दण्ड में सुवर्ण और रत्नों का आधिक्य रहा होगा और उनका सारथी कुछ संस्कृत-प्राकृत जानता रहा होगा। मेरे रथ से उसका अन्तर इतना ही भर रहा होगा। आज हज़ारों वर्ष बाद समुद्रगुप्त के देश का ही एक और आदमी रथस्थ होकर बाहर निकला है। समुद्रगुप्त सम्राट् थे, मैं साम्राज्य का घोर शत्रु। फिर भी मैं वह आदमी था जो अदना होकर भी सारे जगत् के राजनीति-विशारदों को चैलेञ्ज करने की हिम्मत रखता था। समुद्रगुप्त जब रथस्थ होकर बाहर निकले होंगे, तो इस हृदय से और कम्पमान मस्तिष्क से छोटे-मोटे राज्यों का उच्छेद करने की बात सोचते जा रहे होंगे, मैं इस मस्तिष्क से संसार के सब से बड़े साम्राज्य को ध्वंस करने की बात सोच रहा था और कम्पमान हृदय से भूख से तड़पती हुई असंख्य जनता के दुःख और दारिद्य का उन्मूलन करना चाहता था। फिर भी समुद्रगुप्त भारतवर्ष के अतीत सम्राट् थे, मैं साम्राज्यविरोधी भावी सेना का अदना सिपाही। कवि एक दिन शायद इस अज्ञातनामा युवक के कीर्तिकलाप का भी चित्रण करेगा, उस दिन यह जवाहर कवच, यह गान्धी मुकुट, यह अक्षय-तूणीर झोला, यह एकाश्वरथ, यह चाबुक-वाही सारथी; यह पौर-युवतियों के लीला-कटाक्ष से अवहेलित रथ-घर्घर, यह आचार--लाज--विरहित राज मार्ग, सब कुछ उसके कल्पना--नेत्रों के सामने खिंच जायँगे। मैं समाजवाद के अग्निगर्भ-संदेश का वाहक महारथी उसके सहानुभूति-शिशिर नयनवाष्प से स्नात होकर अत्यन्त उज्ज्वल वेश में अंकित हो जाऊँगा।

मैं सोचता जाता था, मेरा रथ आगे बढ़ता जा रहा था। आखिर समाजवाद इतना प्रिय और आकर्षक सिद्धान्त क्यों है? साथ ही मेरे मन में सवाल उठा, पेटेन्ट दवाइयाँ इतनी लोकप्रिय क्यों हैं? क्या

इन दोनों में कोई समानता है ? किसी अखबार को खोलिए, उसके अधिकांश पन्ने दो ही प्रकार के सम्वादों से भरे मिलेंगे। कहीं पर समाजवाद के और कहीं पर पेटेन्ट दवाइयों के। साधारण जनता उलझनों में पड़ना नहीं चाहती, वह सस्ता और सहज मार्ग खोजती है। समाजवाद शायद ऐसा ही मत हो, पेटेन्ट दवाइयाँ शायद ऐसी ही दवाइयाँ हों। एक दिन जब भारतवर्ष में समाजवादी सरकार स्थापित हो जाएगी उस दिन शायद यह एकाश्वरथ न रहेगा, यह पाताल-पाती राजमार्ग शायद कुछ सुधर गया रहेगा, उस दूर की झोपड़ी में शायद विद्युद्वर्तिका का प्रकाश रहेगा। पर वह चीज़ क्या मिलेगी जिसे सुख कहते हैं ? कोई गारन्टी नहीं ? और फिर जिस दिन समुद्रगुप्त जानपद-बन्धुओं के 'अविलासानभिज्ञ कटाक्षों' को धन्य करते हुए, ग्राम-वृद्धों को कुशल-प्रश्न से और घोष-वृद्धों के निकटवर्ती तरुगुल्मों का नाम पूछकर कृत-कृत्य करते हुए चले होंगे, उस दिन भी क्या वह चीज़ सुलभ थी ? कुछ ठीक पता नहीं ! कौन जानता है क्या था और क्या होनेवाला है ! आज न समुद्रगुप्त का साम्राज्य है और न समाजवाद का रामराज्य ! आज है इस निरुपाय निरन्न निर्वाक् मूढ़ जनता की बेतुकी भीड़—जो जीते हैं, इसलिये कि मौत नहीं आ जाती और मरते हैं इसलिये कि जीने का कोई रास्ता नहीं।

अचानक एक धक्का लगा; मेरी चिन्ता और शरीर दोनों में ही, पर रोमांच कहीं नहीं हुआ। सारथी ने कहा—सड़क बड़ी ख़राब है हुज़ूर ! मैं हंसकर रह गया। साफ़ मालूम हुआ गुप्तकाल और अंग्रेज़काल में बड़ा अन्तर है। ईश, वल्गा, छत्र, दण्ड, चक्र और रथ-घर्घर में परिवर्तन क्षम्य है पर धक्के में तो परिवर्तन असह्य है। हिमालय के उस विषम पार्वत्य-पथ पर एक दिन मातलि नामक कोई सारथी भी रथ हाँक रहा था और यह मेरा सारथी भी एक अभ्रचुम्बी और पाताल-पाती राजमार्ग पर अपना रथ हाँक रहा है। उस दिन उर्वशी और पुरूरवा उसपर बैठे थे, एकाध और सुन्दरियाँ भी रही

होगी, धक्का उस दिन भी लगा था, पर वहाँ शरीर और चिन्ता दोनों ही सिहर उठे थे, रोमांच, स्वेद और हृत्कम्प का एक साथ ही आक्रमण हुआ था। हाय ! कौन जाने मेरे चरित्र-काव्य के भावी कालिदास को यह धक्का याद भी आएगा या नहीं। अगर आए तो समाजवाद के इस अग्रदूत का यह अपमानित, अवहेलित धक्का वह कभी नहीं भूलेगा। उसे अपने अग्निगर्भ-असन्तोष उद्गिरण करनेवाले महाकाव्य में इस भयानक अनर्थ का चित्रण ज़रूर करना होगा। साम्राज्यवाद और 'बुर्जुआ' मनोभाव पर भी इसी बहाने उसे एक ठोकर ज़रूर मारते जाना पड़ेगा।

आज का कोई युवक यह नहीं कहता कि केवल वही सत्य बात कह रहा है, बाक़ी लोग या तो सारे संसार को या अपने आपको धोखा दे रहे हैं। पर सबके कहने का सारांश यही होता है। मैं भी इस बात को या इसी प्रकार की एक बात को कहने का अभ्यस्त रहा हूँगा। इसीलिये उस दिन मैंने एक बार लिखा था कि उस आर्ट का मूल्य ही क्या हो सकता है जिसे समझने के लिये बीस वर्ष लगातार शिक्षा की आवश्यकता हो ? ऐसी कला से उस कोटि-कोटि निरन्न निर्वस्त्र जनता का क्या फ़ायदा है जिसके रक्त को चूसकर ही ये कलाकार और ये कला-कोविद मोटे हो रहे हैं ! जिस नृत्यभंगी को समझने के लिये भरत और नंदिकेश्वर का अध्ययन करना पड़े उसमें वास्तव में जीव नहीं है, वह प्रगति विरोधी है, वह 'बुर्जुआ' मनोभाव को प्रश्रय देती है। कालिदास से लेकर रवीन्द्रनाथ तक सभी उसी निष्प्राण और 'बुर्जुआ' मनोभाव के पोषक काव्य कला के कलाकार हैं ! आज इस एकाश्ववाही रथ पर बैठने से मेरे मन में कुछ-कुछ सम्राट का आवेश संचरित हुआ होगा। शायद मेरे अवचेतन मन के समुद्रगुप्त ने आज मेरे चेतन मन को अभिभूत कर लिया होगा। आज मैं सोचता जा रहा था, क्या सचमुच कला भी ग़रीबों के लिये हो सकती है ? समाजवाद ग़रीबों के लिये है, या ग़रीबो के ध्वंस के लिये ? वह जो चिथड़ों में लिपटी हुई ज्वराक्रान्त बुढ़िया कराहती हुई हाथ में

तैल-किट्ट-कलुष-शीशी लिये नगरी के चिकित्सालय की ओर भागी जा रही है, कला का निर्माण क्या उसीके लिये होगा ? या मारिये गोली कला को ! रामराज्य की भारी-भरकम भित्ति क्या इन्हीं मुर्दे कन्धों पर स्थापित होगी ? हर्गिज़ नहीं । समाजवाद इन मूढ़, निर्वाक्, दलित, अपमानित, हीन-निर्वीर्य और तेजोहीन पुरुष और स्त्रियों का ध्वंस कर देगा अवश्य विशेषण को, विशिष्यमाण को नहीं । इन्हीं निर्वीर्य जनसमूह से तेजोदृप्त जनसमूह का अवतार होगा । पहले राम का अवतार, फिर रामराज्य की स्थापना !

'अब की बार तो सरकार को आप लोगों ने हरा दिया न हुजूर ?'

दीर्घकाल के मौन को तोड़ने की इच्छा ही शायद मेरे एकाश्ववाही-रथ के सारथी के इस प्रश्न का कारण थी । पिछले निर्वाचन में कांग्रेस ने इस प्रान्त में सचमुच गर्व-योग्य विजय प्राप्त की थी । मैं बंगाल से आ रहा था । वहां के किसी मज़दूर ने ऐसा प्रश्न नहीं किया था । इसलिये नहीं कि बंगाल का मज़दूर कुछ ज्यादा बुद्धिमान होता है और और वह ठीक जानता है कि निर्वाचन में जीतने या हारने से सरकार का कुछ बनता बिगड़ता नहीं, बल्कि इसलिये कि बंगाल में कांग्रेस की ऐसी जीत हुई ही नहीं थी, और इसलिये जन-साधारण में कांग्रेस-वादियों ने बहुत अधिक विज्ञापन करने की आवश्यकता नहीं समझी थी । शायद इसका कारण यह भी रहा हो कि मै बंगाल के जिस कोने से आ रहा था वह राजनैतिक केन्द्र की अपेक्षा साहित्यिक केन्द्र अधिक था । वर्तमान राजनीति का हो-हल्ला वहाँ कम सुनाई देता है ।

टालने के लिये मैंने संक्षेप में जवाब दिया—देखते चलो भाई, अभी देर है ! – मगर यह ग़रीब देखेगा क्या ? इसे तात्कालिक राजनीति का कुछ भी तो पता नहीं, मेरे ही जैसे गान्धी-मुकुट-धारी किसी समाजवादी अदना सम्राट् (!) ने उसे निर्वाचन के पहले समझाया होगा कि अब मज़दूरों का राज्य होने वाला है, बस, इसमें किसी कांग्रेस-मनोनीत सदस्य को वोट देने भर की देर है ! लेकिन मैं सोचता रहा इस प्रचार का

परिणाम भयंकर भी तो हो सकता है। कुसंस्कारों से आपादमस्तक लदी हुई, इस अशिक्षित जनता को समझाया भी क्या जा सकता है? कहते हैं, ज़माना बदल गया है, आज का मज़दूर और किसान कुछ तार्किक हो गया है, वह अपने पूर्वजों की तरह प्राचीन परम्परा को अपरिवर्तनीय विधान मानने को तैयार नहीं है। लेकिन कहाँ! तीन वर्ष के प्रवास के बाद आज लौट रहा हूँ, देखता हूँ, अब भी हिस्टीरिया की दवा ओझे का डंडा है, मलेरिया में अभी भी लोहबान और लाल मिर्च का धुआँ उपादेय समझा जाता है, गण्डे-तावीज़ की अमोघता में कोई भी अन्तर नहीं आया—सारी रेलगाड़ी तो इस बात का ही सबूत थी! और यह एक्कावान पूछता है कि सरकार की हार हुई या नहीं। सोलह वर्ष पहले इन्हीं गाँवों में यह समाचार बड़ी तेज़ी से फैल गया था कि गांधी जी को अहमदाबाद में तोप से उड़ा दिया गया है और वे दिल्ली में लाट साहब के घर के सामने चर्खा कातते पाए गए हैं! आज भी इस प्रकार का समाचार उसी आसानी से फैलाया जा सकता है। आज जब मेरे सारथी ने सरकार की हार को विश्वास के साथ मान लिया है तो मैं सोच रहा हूँ, तोपवाली बात में और मज़दूरों के राजवाली बात में क्या कोई समानता नहीं है? दोनों ही आकाश कुसुम हैं!

लेकिन यह ठीक है कि यह राज्य-व्यवस्था, यह समाज-व्यवस्था बहुत दिनों तक नहीं टिकेगी। मज़दूरों में बल संचय होगा। वे अपना अधिकार पावेंगे। हे मेरे अभागे देश! तुमने जिन कोटि-कोटि नर-नारियों का अपमान किया है, अधिक नहीं तो, चिताभस्म के ऊपर एक दिन तुम्हें उन सबके समान होना ही पड़ेगा। तुमने मनुष्य-देवता का अपमान किया है, वे तुमसे रूठ गये हैं। शत शत शताब्दियों से पददलित यह असंख्य जन समुदाय तुम्हें आगे नहीं बढ़ने देगा। जो नीचे पड़े हैं वे पैर पकड़ कर तुम्हारा चलना दूभर कर देंगे। अपमानित, अवहेलित, दलित और निष्पेषित के समान अगर तुम भी नहीं हो जाते तो तुम्हारा नाश अवश्यंभावी है। मैंने कल्पना के नेत्रों से देखा कि मैं

एक वज्रकपाट-पिहित अन्धकाराच्छन्न कठोर किले में घुस रहा हूँ। इसका भेद करना आसान नहीं। भावावेश में मैं मन-ही-मन रवीन्द्रनाथ का एक गान गाने लगा जिसमें बताया गया है कि 'ऐ अभागे, तेरी पुकार सुनकर अगर तेरा साथ देने कोई न आये तो अकेला ही चल; अगर सामने घोर अन्धकार दिख पड़े तो वक्षस्थल की हड्डी खींचकर मशाल जला ले और अकेला ही चल पड़ !!' मैं अपने को छिन्न-कार्मुक योद्धा की भाँति दिग्मूढ़ नहीं पा रहा था; बल्कि अधिज्यधन्वा धनुर्धर की भाँति निर्भीक आगे बढ़ रहा था। ऐ मेरे भावी कालिदास, भूल न जाना!

फिर एक धक्का; मेरे सारथी ने कहा—बाबूजी, गंगा मैया ने रास्ता तोड़ दिया, थोड़ी दूर पैदल ही चलना होगा। 'बहुत अच्छा'—कह कर मैंने अनुरोध-पालन किया। मेरी दाहिनी ओर गंगा मैया लापरवाही से बह रही थीं। कुछ महीने पहले ही इन्होंने भी साम्यवाद का प्रचार किया था। आसपास के गाँवों के धनी दरिद्र सबको एक समान भूमि पर ला खड़ा किया था। अब ये विश्रान्त भाव से बह रही थीं। मैंने उनके अनजान में ही एक बार प्रणाम कर लिया। मेरे मन में उस समय एक अटूट निरवच्छिन्न परम्परा के प्रति एक कोमल भाव रहा होगा। उस समय मैं एक बार याद करता था उन लाख-लाख अनुद्गत-यौवना कुमारी ललनाओं को जिन्होंने अनादि काल से अभिलषित वर की कामना से गंगा मैया के इस स्रोत में लाख-लाख माँगल्य-दीप बहा दिए होंगे। फिर याद आई मुक्तिकाम महात्माओं की जिनके तपःपूत ललाट का असंख्य प्रणिपात गंगा की प्रत्येक तरंग ढोती जा रही थी। और अन्त में याद आईं गुप्तकाल की ललनाएँ जिनके वदन-चंद्र के लोध्ररेणु से नित्य गंगा का जल पांडुरित हो जाता रहा होगा, जिनके चंचल लीला-विलास से बाह्य प्रकृति का हृदय चटुल भावों से भर जाता रहा होगा, गज-शावक उत्सुकता के साथ करेणुका को पंकज रेणु-गंधि गण्डूषजल पिला दिया करता होगा, अर्द्धोपभुक्त मृणाल-खण्ड से ही चक्रवाक युवा प्रिया को सम्भावित करने लग जाता होगा, क्षण भर के

लिए सैकतचारी हंसमिथुन पीछे फिरकर स्तब्ध हो रहते होंगे। गुप्तकाल के वसन्त काल में और आज के वसन्त काल में कितना अन्तर है! वह जो सामने अशोक नामधारी वृक्ष धूलिधूसर होकर ज़िन्दगी के दिन काट रहा है, उन दिनों, आसिंजित-नूपुर चरणों के आघात की भी इन्तज़ारी नहीं करता था, वसन्त देवता के आते ही कन्धे पर से ही फूट उठता था; पर आज! आज की बात मत पूछिये। मुझे साफ़ मालूम हो रहा था कि गंगा के प्रत्येक बूँद के अन्तस्तल में गुप्तकाल के आसिंजित-नूपुर की झनकार अनुरणित हो रही है। अब भी इसीलिए गंगा की तरंगे मस्त हैं, लापरवाह हैं, सतेज हैं। उस नशे की खुमारी अब भी दूर नहीं हुई है। और हम मनुष्य कहलाने वाले जीव इतने गए-बीते हैं कि कुछ पूछो ही नहीं।

डिफीटेड मेन्टैलिटी—पराजित मनोभाव! सामने दुर्भेद्य अज्ञान दुर्ग है; बाहर का शोषण और भीतर की लूट जारी है; और तुम गुप्तकाल के स्वप्न देख रहे हो। इसे ही पराजित मनोभाव कहते हैं। आज का हरेक कवि, हरेक लेखक इसी पराजित मनोभाव का शिकार है। अंग्रेजकाल गुप्तकाल नहीं है; वर्तमान अतीत जैसा मोहक नहीं है। उज्जयिनी की अभिसारिकाएँ न जाने कौन-सी गुदगुदी पैदा करके और न जाने कौन-सा वैराग्य उद्रिक्त करके अस्त हो गईं। आज बड़े बड़े नगरों के वेश्यालय देश की समस्त नैतिकता, समग्र काव्य-कला, समग्र आचार परम्परा पर मानो बड़े प्रश्नवाचक चिन्ह हैं। वर्तमान युग युवती विधवाओं द्वारा अभिशप्त है, अपमानित दलित सधवाओं द्वारा अवरुद्ध है, निरुपाय सामान्याओं द्वारा कलंकित है। इस असौन्दर्य के ढूह में काव्यकला टिक नहीं सकती। साफ़ करो पहले इस जंजाल को, इस कूड़ा को, इस आवर्ज्जना को, इस अन्धकार को।

फिर मैं सोचने लगा—अतीत क्या चला ही गया? अपने पीछे क्या हम एक विशाल शून्य मरुभूमि छोड़ते जा रहे हैं। आज जो कुछ हम कर रहे हैं, कल क्या वह सब लोप हो जायगा? कहाँ जायगा यह?

मैं किसी तरह विश्वास नहीं कर सका कि अतीत एकदम उठ गया है। मुझे साफ़ दिख रहा है, इसी गंगा की तरह मस्त भाव से बहती हुई सिप्रा की लोल तरंगों पर बैठे हुए कवि कालिदास उज्जयिनी के सौध-निहित वातायनों की ओर देख रहे हैं। हाय, कहीं मैं भी उनके साथ होता! सिप्रा की प्रत्येक ऊर्मियाँ अप्सराओं के रूप में मुहूर्त भर को लीलायितकरके लुप्त होती जा रही हैं। कवि के नयनों के सामने शत-शत विकच कमल किन्नरों के रूप में विकसित होते जा रहे हैं। तटभूमि पर कहीं अलकार्पित कर्णिकार, आगण्ड-विलंबि-केसर शिरीष, कहीं विस्रस्त-वेणीच्युता अशोक मंजरी, कहीं त्वरा-परित्यक्त लीला कमल अम्लान भाव से बिखरे पड़े हैं। मैं स्पष्ट देखता हूँ अतीत कहीं गया नहीं है। वह मेरे रग-रग में सुप्त है। ना, अतीत एक विशाल मरु-भूमि कभी नहीं है!

सत्य क्या है? ये जो दो ग्वाल-बाल नग्नप्राय अवस्था में खड़े हैं, शरीर उनका अस्थि-पंजर-मात्र अवशिष्ट है, चेहरा उनका भारतवर्ष का नक़शा है—(दोनों गाल दोनों समुद्र और चिबुक कुमारिका अन्तरीप!) पेट उनका सारे जगत् का अनुकारी विशाल ग्लोब है—यही क्या भारतवर्ष है? यही क्या सत्य है? हे उच्छिन्न-वीर्य कंकाल-शेष भारतवर्ष, मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ, लेकिन मेरा मन यह नहीं मानना चाहता कि इन चर्म-चक्षुओं के सामने जो कुछ हिल-डोल रहा है वही सत्य है—'जाहा घटे ताहो सब सत्य नहे!'

भारतवर्ष!—उपयुक्त रास्ते पर सारथी के अनुरोध पर फिर रथारूढ़ होते हुए मैंने सोचा—हज़ार-हज़ार जाति और उपजातियों में विभक्त, शत-शत साधु सम्प्रदायों द्वारा जर्जरीकृत, विविध आचार परम्परा का शतच्छिद्र कलश, भारतवर्ष!! यही क्या सत्य है? या विराट् मानव महासमुद्र भारतवर्ष, जहाँ आर्य और अनार्य, शक और हूण, चैनिक और तुरुष्क, मुग़ल और पठान एक दिन दृप्तवीर्य होकर आये और सब भूलकर एक हो रहे!! 'हे मेरे चित्त, भारत रूप इस महा-मानव-समुद्र के पुण्य

तट पर स्थिर भाव से जगा रह'। कौन जाने किस विधाता ने किन महा-रत्नों को मथ निकालने के लिए यहाँ उत्कट देवासुर युद्ध का विधान किया है ? भारतवर्ष का अतीत उसके साथ है, वर्तमान उसके आगे है और वह सुदूर उदयाचल के पास सुवर्ण-ज्योति झिलमिला रही है, वही उसके तेजोमय भविष्य की निशानी है। इसका प्रथम प्रकाश मेरे इस दुग्ध-धवल गान्धी-किरीट पर ही पड़ रहा है।

मेरा रथ अब गन्तव्य पर आ गया !

१५

पण्डितों की पंचायत

यह संयोग की ही बात कही जायगी कि इस बार के एकादशी वाले झगड़े की सभा में मुझे भी उपस्थित रहना पड़ा। मैं बिलकुल ही नहीं जानता था कि काशी के पंचाङ्ग-निर्माताओं ने गाँव में रहनेवाले विश्वास-परायण पण्डितों को आलोड़ित कर दिया है। वैशाख शुक्ल पक्ष की एकादशी किसी ने बृहस्पतिवार के दिन बता दी है और किसी ने शुक्रवार के दिन। अचानक जब एक दिन पण्डितों की पंचायत में मुझे बुला भेजा गया तो एकदम शस्त्रहीन योद्धा की भाँति मुझे संकोच के सहित ही जाना पड़ा। सभा में उपस्थित पण्डितों में से अधिकांश मुझे जानते थे, किसी-किसी के मत से मैं घोर नास्तिक भी था, फिर भी

न-जाने क्यों इन्होंने मुझे बुलाने की बात का समर्थन किया। शायद इसलिए कि मैं कुछ ज्योतिष शास्त्र से परिचित समझा जाता था और आलोच्य विषय का कुछ सम्बन्ध उक्त शास्त्र से भी था। जो हो, मैंने इसे पण्डित-मण्डली की उदारता ही समझी और शुरू से आख़ीर तक अपना कोई स्वतंत्र मत व्यक्त न करने का संकल्प-सा कर लिया।

मैं जब सभास्थल पर पहुँचा तो विचार आरम्भ हो चुका था। इसीलिए यह जानने का मौक़ा ही नहीं मिला कि सभा का कोई सभापति या सरपंच है या नहीं। शायद इसका निर्वाचन ही नहीं हुआ था। मुझे देखते ही एक पण्डितजी ने उत्तेजित भाव से कहा, कि देखिए 'विश्व-पंचांग' वालों ने क्या अनर्थ किया है। इन लोगों का गणित तीन लोक से न्यारा होता है। भाई, सब जगह ज़बरदस्ती चल सकती है; 'लेकिन शास्त्र पर ज़बरदस्ती नहीं चलेगी'। मैंने मन ही मन इसका अर्थ समझ लिया। यह मुझे युद्ध-क्षेत्र में आ डटने की ललकार थी। मैं हँसकर रह गया।

शास्त्र पर ज़बरदस्ती! मेरी भावुकता को ज़बरदस्त धक्का लगा। मेरा विद्रोही पाण्डित्य तिलमिला कर रह गया। क्षण-भर में मेरे सामने सम्पूर्ण ज्योतिषिक इतिहास का रूप खेल गया। एक युग था, जब हमारे देश में लगध मुनि का अत्यन्त सूक्ष्म गणित प्रचलित था! लेकिन पण्डितों का दल सन्तुष्ट नहीं हुआ, उसने किसी भी प्राचीन शास्त्र को प्रमाण न मानकर अपना अनुसंधान जारी रखा। गणना सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होती गई। अचानक भारतवर्ष के उत्तरी पश्चिमी किनारे पर यवन-वाहिनी का भीषण रण-तूर्य सुनाई पड़ा। देश के विद्यापीठ—गान्धार से लेकर साकेत तक—एकाधिक बार विध्वस्त हुए। भारतवर्ष कभी जीतता रहा, कभी हारता रहा। कभी सारा भारतीय साम्राज्य समृद्धशाली नगरों से भर गया, कभी श्मशान परिणत जनपदों के हाहाकार से झनझना उठा। पर अनुसन्धान जारी रहा। भारतीय और ग्रीक पण्डितों के ज्ञान का संघर्ष भी चलता रहा, हठात् ईसा की चौथी

शताब्दी में भारतीय ज्योतिष के आकाश में कई ज्वलन्त ज्योतिष्क पिण्ड एक ही साथ चमक उठे। भारतीय गणना बहुत परिमाण में यावनी विद्या से समृद्ध हुई। यावनी विद्या हतदर्प होकर भारतीय गौरव को वरण करने लगी। उस दिन निःसंकोच भारतीय पण्डितों ने घोषणा की—यवन म्लेच्छ हैं सही, पर इस (ज्योतिष) शास्त्र के अच्छे जानकार हैं। 'वे भी ऋषिवत् पूज्य हैं, ब्राह्मण ज्योतिषी की तो बात ही क्या है'! (बृहत् संहिता)

मैंने कल्पना के नेत्रों से देखा महागणक आचार्य बराहमिहिर न्यायासन पर बैठकर तत्काल प्रचलित पाँच सिद्धान्तों के मतों का विचार कर रहे हैं। इनमें दो विशुद्ध भारतीय मत के प्राचीनतर सिद्धान्त हैं, दो में यावनी विद्या का असर है, पाँचवाँ (सूर्य सिद्धान्त) स्वतन्त्र भारतीय चिन्ता का फल है। बराहमिहिर ने पहले दोनों यावनी प्रभावापन्न सिद्धान्तों की परीक्षा की। पौलिश का सिद्धान्त अच्छा मालूम हुआ, रोमक भी उसके निकट ही रहा। आचार्य ने छोटी-मोटी भूलों का ख़याल न करते हुए साफ़ साफ़ कह दिया—अच्छे हैं। फिर सूर्य सिद्धान्त की जाँच हुई। आचार्य का चेहरा खिल उठा। यह और भी अच्छा था। और अन्त में ब्रह्म और शाकल्य के सिद्धान्तों की बारी आई। आचार्य के माथे पर ज़रा-सा सिकुड़न का भाव दिखाई दिया, उन्होंने दोनों को एक तरफ ठेलते हुए कहा—उहुँ! ये दूर-विभ्रष्ट हैं।

> पौलिशकृतः स्फुटोऽसौ तस्यासन्नस्तु रोमकः प्रोक्तः
> स्पष्टतरः सावित्रः परिशेषौ दूर-विभ्रष्टौ। (पंचसिद्धान्तिका)

उस दिन किसी की हिम्मत नहीं थी कि आचार्य को शास्त्र पर ज़बर्दस्ती करनेवाला कहे। क्योंकि वह स्वतंत्र चिन्ता का युग था, भारतीय-समाज इतना रूढ़िप्रिय और परापेक्षी नहीं था। वह ले भी सकता था और दे भी सकता था। मैंने देखा ब्रह्मगुप्त के शिष्य भास्कराचार्य निर्भीक भाव से कह रहे हैं, 'इस गणित स्कंध में युक्ति ही

एकमात्र प्रमाण है, कोई भी आगम प्रमाण नहीं'। यह बात सोलह आने सही थी और भारतीय पंडित-मंडली को सही बात स्वीकार करने का साहस था। पर आज क्या हालत है!

मैं जिस समय यह चिन्ता कर रहा था उसी समय पंडित लोग निर्णय-सिन्धु और धर्म-सिन्धु के पन्ने उलट रहे थे। नाना प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध ऋषियों, पुराणों और संहिताओं के वचन पढ़े जा रहे थे और उनकी संगतियाँ लगाई जा रही थीं। मैं उद्विग्न-सा होकर सोच रहा था कि ये निबन्ध-ग्रन्थ क्यों बनाये गये? मुझे ऐसा लगा कि पश्चिम में एक आत्म-विश्वासी धर्म का जन्म हुआ है जो किसी से समझौता नहीं जानता, किसी को मित्र नहीं मानता। उसके दाहिने हाथ के कठोर कृपाण के आक्रमण से बड़ी बड़ी सभ्यताओं के लौह-प्राचीर चूरचार हो जाते हैं, और बाँये हाथ के अमृत आश्वासन से पराजित जन-समूह एक नये जीवन और नये वैभव के साथ जी उठता है। जो एक बार उसके आधीन हो जाता है वही उसके रँग में आपाद-मस्तक रँग जाता है। यह इसलाम है।

इसलाम-विजय-स्फीत वक्ष होकर भारतीय संस्कृति को चुनौती देता है, उसके बारंबार आक्रमण से उत्तरी भारत संत्रस्त हो उठता है और कुछ काल के लिए समूचा हिन्दुस्तान त्राहि-त्राहि के मर्मभेदी आवाज़ से गूंज उठता है। धीरे-धीरे उत्तर के विद्यापीठ दक्षिण और पूर्व की ओर खिसकते जाते हैं। महाराष्ट्र नवीन आक्रमण से मोर्चा लेने के लिये कटिबद्ध होता है और भारतीय विश्वास के अनुसार सब से पहले अपने धर्म की रक्षा को तैयार होता है। भारतीय पण्डितों ने कभी इतनी मुस्तैदी के साथ स्तूपीभूत शास्त्र-वाक्योंकी छानबीन नहींकी थी, शायद भारतीय संस्कृति को कभी ऐसे विकट ललकार के सुनने की संभावना नहीं हुई थी। क्षणभर के लिये ऐसा जान पड़ा कि भारतीय मनीषा के स्वतन्त्र चिन्ता को एकदम त्याग दिया है, केवल टीका, केवल निबन्ध, केवल संग्रह ग्रंथ! शास्त्र के किसी अंग पर स्वतंत्र ग्रंथ नहीं लिखे जा रहे हैं। सर्वत्र टीका

पर टीका, तिलक पर तिलक, तस्यापि तिलक—एक कभी समाप्त न होनेवाली टीकाओं की परम्परा।

देखते-देखते टीका-युग का प्रभाव देश के इस छोर से उस छोर तक व्याप्त हो जाता है। महाराष्ट्र, काशी, मिथिला और नवद्वीप टीकाओं और निबन्धों के केन्द्र हो उठते हैं। शास्त्र का कोई वचन छोड़ा नहीं जाता है, किसी भी ऋषि की उपेक्षा नहीं की जा रही है पर भयकर सतर्कता के साथ प्रचलित लोकनियमों का ही समर्थन किया जाता है। इस नियम के विरोध में जो ऋषि वचन उपलब्ध होते हैं उन्हें 'ननु' के साथ पूर्व पक्ष में कर दिया जाता है और उत्तर पक्ष सदा स्थानीय आचारों का समर्थन करता है। पण्डितों की भाषा में इसी को संगति लगाना कहा जाता है। संगति लगाने का यह रूप मुझे हतदर्प भारतीय धर्म की सबसे बड़ी कमज़ोरी जान पड़ी। मैं ठीक समझ नहीं सका कि शास्त्रीय वचनों के इन विशाल पर्वतों को खोदकर ये चुहियाँ क्यों निकाली जा रही हैं।

यह जो एकादशी व्रत का निर्णय मेरे सामने हो रहा है, जिसमें बीसियों आचार्यों के सैकड़ों श्लोक उद्धृत किये जा रहे हैं, अपने आप में ऐसा क्या महत्त्व रखता है जिसके लिए एक दिन सैकड़ों पंडितों ने परिश्रम-पूर्वक सैकड़ों निबन्ध रचे थे और आज आसेतु हिमाचल समस्त भारतवर्ष के पण्डित उनकी सहायता से व्रत का निर्णय कर रहे हैं। क्या श्रद्धापूर्वक किसी एक दिन उपवास कर लेना पर्याप्त नहीं था! यदि एकादशी किसी दिन ५५ दण्ड से ऊपर हो गई, या किसी दिन उदय काल में न आ सकी, या किसी दिन उदय काल में आ गई तो क्या बन या बिगड़ गया? किसी भी एक दिन व्रत कर लेना पर्याप्त नहीं है? मुझे 'ननु' 'तथाच' और 'उक्तंच' की धुआँधार वर्षा से मध्ययुग का आकाश इतना आविल जान पड़ा कि बीसवीं शताब्दी का ज्ञानालोक अनेक चेष्टाओं के बाद भी निबन्धकारों की असली समस्या तक नहीं

पहुँच सका।" मैंने फिर एक बार सोचा, शास्त्रीय वचनों के इन विशाल पर्वतों को खोदकर यह चुहिया क्यों निकाली जा रही है।

लेकिन आज चाहे कुछ भी क्यों न जान पड़े, टीका-युग का प्रारम्भ नितान्त अर्थ-हीन नहीं था। मुझे साफ़ दिखाई दिया, भारतवर्ष की पदध्वस्त संस्कृति हेमाद्रि के सामने खड़ी है, चेहरा उसका उदास पड़ गया है, अश्रु-क्षुब्ध-नयन कोटरशायी-से दिख रहे हैं, वदन-कमल मुरझा गया है। हेमाद्रि का मुख-मण्डल गंभीर है, भ्रूदेश किञ्चित् कुञ्चित हो गए हैं, विशाल ललाट पर चिन्ता की रेखाएँ उभड़ आई हैं, अधरोष्ठ दाँतों के नीचे आ गया है—वे किसी सुदूर की वस्तु पर दृष्टि लगाए हैं। यह दृष्टि कभी अर्थ-हीन नहीं हो सकती, वह किसी निश्चित सत्य पर निपुण भाव से आबद्ध है। शायद वह भारतवर्ष के विच्छिन्न रस्म और रवाजों की बात होगी, शायद वह स्तूपीभूत शास्त्रों के मत-भेद की चिन्ता होगी, शायद वह सम्पूर्ण आर्य-सभ्यता को एक कठोर नियम-सूत्र में बाँधने की चेष्टा होगी, शायद वह नवागत प्रतिद्वन्द्वी धर्म की अचिन्तनीय एकता के जवाब की बात होगी—पर वह थी बहुत दूर की बात। मुझे इसमें कोई सन्देह नहीं रहा। जिस पंडित के लिये समग्र शास्त्र हस्तामलकवत् थे, जिसकी आँखों के सामने भारतीय संस्कृति नित्य कुचली जा रही थी, उस महामानव का कोई प्रयत्न निरर्थक नहीं हो सकता।

अगर सारा भारतवर्ष एक ही दिन उपवास करे, एक ही दिन पारण करे, एक ही मुहूर्त्त में उठे बैठे, तो निश्चय ही वह एक सूत्र में ग्रथित हो जाय। हेमाद्रि और उनके अनुयायियों का यही स्वप्न था, वह सफल भी हुआ। आज की यह पञ्चायत उसी सफलता का सबूत है। इस समय यह विचार नहीं हो रहा है कि विश्वपञ्चाङ्ग का मत मान्य है या और किसी का, बल्कि इस बात का निर्णय होने जा रहा है कि वह कौनसा एक—और केवल एक—दिन होना चाहिये जब सारे भारत के गृहस्थ एक ही चिन्ता के साथ उपोषित होंगे। आज की सभा का यही महत्व है।

हेमाद्रि का स्वप्न सफल हुआ; पर उद्देश्य नहीं सिद्ध हो सका। भारतवर्ष एक ही तिथि को व्रत और उपवास करने लगा, एक ही मुहूर्त में उठने बैठने के लिए बद्धपरिकर हुआ; पर एक नहीं हो सका। उसकी कमज़ोरी केवल रस्मों और रवाजों तक ही सीमित नहीं थी, यह तो उसकी बाहरी कमज़ोरी थी। जातियों और उपजातियों से उसका भीतरी अंग जर्जर हो गया था, हज़ारों सम्प्रदायों में विभक्त होकर उसकी आध्यात्मिक साधना शतच्छिद्र कलश की भाँति संग्रहहीन हो गई थी—वह हतज्योति उल्का-पिण्ड की भाँति शून्य में छितराने की तैयारी कर रहा था।

लेकिन डूबते-डूबते भी सँभल गया। तक़दीर ने तन्त पर उसकी ख़बर ली, ज्यों ही नाव डगमगाई, त्यों ही किनारा दिख गया। और भी सुदूर दक्षिण से भक्ति की निविड़ घनघटा दिखाई पड़ी, देखते देखते यह मेघखण्ड सारे भारतीय आसमान में फैल गया और आठ सौ वर्षों तक इसकी जो धारासार वर्षा हुई, उसमें भारतीय साधना का अनेक कूड़ा बह गया, उसके अनेक बीज अंकुरित हो उठे। भारतवर्ष नये उत्साह और नये वैभव से शक्तिशाली हो उठा। उसने उदात्त कंठ से दृढ़ता के साथ घोषित किया—प्रेम पुमर्थो महान् प्रेम ही परम पुरुषार्थ है! विधि शौर निषेध, शास्त्र और पुराण, नियम और आचार, कर्म और साधना, इन सबके ऊपर है यह अमोघ महिमाशाली प्रेम। प्रेमी जाति और वर्ण से ऊपर है, आश्रम और सम्प्रदाय से अतीत है।

जिन दिनों की बात हो रही है, उन दिनों भारतवर्ष का प्रत्येक कोना तलवार की मार से झनझना रहा था, बड़े-बड़े मन्दिर तोड़े जा रहे थे, मूर्तियाँ विध्वस्त की जा रही थीं, राज्य उखाड़े जा रहे थे। विच्छिन्न हिन्दू शक्ति जीवन के दिन गिन रही थी। और साथ ही दो भिन्न दिशाओं से उसे संहत करने का प्रयत्न चल रहा था। विच्छेद और संघात के दो परस्पर विरोधी प्रयत्नों से एक अज्ञातपूर्व दशा की सृष्टि हुई। हिन्दू सभ्यता नई चेतना के साथ जाग उठी, आज जो आलोचना

चल रही है, वह उसी नई चेतना का भग्नावशेष है। उसमें कोई स्फूर्ति नहीं रह गई है। नीरस और प्रलम्बमान तर्क-जाल से उकताकर मैं उद्विग्न हो रहा था। जी में आया, यहाँ से उठ चलूँ और इस विचार के आते ही मेरी कल्पना वहाँ से उठाकर मुझे अन्यत्र ले चली।

मुझे ऐसा जान पड़ा मैं सारे जगत् के छोटे-मोटे व्यापार को देख सकता हूँ। मेरी दृष्टि समुद्र पार करके अद्‌भुत कर्ममय लोक में पहुँची। यहाँ के मनुष्यों में किसी को फुरसत नहीं जान पड़ी, सबको समय के लाले पड़े थे। सारे द्वीप में एक भी ऐसा गाँव नहीं मिला, जहाँ घंटों तक एकादशी व्रत के निर्णय की पंचायत बैठ सके। सभी व्यस्त, सभी चंचल, सभी तत्पर! मैं आश्चर्य के साथ इनकी अपूर्व कर्म-शक्ति देखता रह गया। यहाँ से लाल, काली, नीली आदि अनेक तरंगें बड़े वेग से निकल रही थीं और सारे जगत् के वायुमण्डल को मुहूर्त भर में तरंगित कर देती थीं। भारतवर्ष के शान्त वायु-मण्डल पर भी ये बार-बार आघात करती हुई नज़र आईं। वह भी कुछ विक्षुब्ध हो उठा। ये विचारों की लहरें थीं।

मैं सोचने लगा, यूरोप से आए हुए नये विचार किस प्रकार नित्यप्रति हमारे समाज को अज्ञात भाव से एक विशेष दिशा की ओर खींचे लिए जा रहे हैं। पुस्तकों, समाचार-पत्रों, चलचित्रों और रेडियो आदि के प्रचार से हमारे समाज के विचारों में भयंकर क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहे हैं। भयंकर इसलिए कि अभी तक यह समाज इस क्रान्तिकारी विचार के महाभार को सम्हालने के योग्य नहीं हुआ है—उसके पैर लड़खड़ा रहे हैं। उसके कन्धे दुर्बल हैं, उसकी छाती धड़क रही है। हम सन्त्रस्त की तरह इन विचारों को देखते हैं; पर जब अज्ञात भाव से ये ही हमारे अन्दर घर कर जाते हैं तो या तो हम जान ही नहीं सकते या यदि जान सकते हैं तो घबरा उठते हैं। आज की सभा भी इसी घबराहट का एक रूप है।

जिस दिन तक भारतीय ज्योतिर-शास्त्र के साथ इस नवीन विचार का संघर्ष नहीं चला था तब तक दृश्य और अदृश्य गणना नामक दो अद्भुत शब्दों का आविष्कार नहीं हुआ था। साधारण दिमाग़ को यह समझ में ही नहीं आएगा कि गणना—ज्योतिष की प्रत्यक्ष गणना—दृश्य और अदृश्य एक ही साथ कैसे हो सकती है। पण्डित लोग इस बात को इस प्रकार समझाते हैं—पहली तरह की गणना वह जिसे हमारे प्राचीन आचार्यों ने बताई है। यह ऋषिप्रोक्त गणना है। इस पर से अगर ग्रह-गणित करो तो कुछ स्थूल आता है अर्थात् उस स्थान पर से ग्रह कुछ इधर-उधर हटा हुआ नज़र आता है। पर आधुनिक वैज्ञानिक गणना से वह ठीक स्थान पर दिखता है। यह तो कहा नहीं जा सकता कि ऋषियों की गणना ग़लत है, असल बात यह है कि वह अदृश्य गणना है. वह आसमान में ग्रहों को यथास्थान दिखाने की गणना नहीं है; बल्कि एकादशी आदि व्रतों के निर्णय करने की गणना है। ये व्रत भी अदृश्य हैं, इनके फल भी अदृश्य हैं, फिर इनकी गणना क्यों अदृश्य न हो? दृश्य-गणना आधुनिक विज्ञान-सम्मत है। इसका काम ग्रहण, युति आदि दृश्य पदार्थों को दिखाना है। कुछ पण्डित पहली गणना को ही मानकर पत्रा बनाते हैं, कुछ दूसरी के हिसाब से, कुछ दोनों को मिलाकर। इन दोनों को मिलाने से जिस 'दृश्यादृश्य' नामक विसंष्ठुल गणना का अवतार हुआ है उसमें कई पक्ष हैं, कई दल हैं। कोई सायन, कोई निरयण, कोई रैवत, कोई चैत्र, अनेक मत खड़े हुए हैं। झगड़ा बहुत-सी छोटी-मोटी बातों तक पहुँचा हुआ है। उदाहरण के लिए मान लिया जाय कि किसी प्राचीन पण्डित ने कहा कि 'क' से 'ख' स्थान का देशान्तर-काल एक घंटा है और आज के इस वैज्ञानिक युग में प्रत्यक्ष सिद्ध हो गया है कि एक घंटा नहीं, पौन घंटा है। अब कौन-सा मत मान लिया जाय? कोई एकादशी व्रत के लिए प्राचीन आचार्य की बात पर चिपटा हुआ है, दूसरा इतनी-सी बात में उदार होना पसंद करता है। इन अनेक झगड़ों

के कारण एकादशी व्रत का निर्णय करना बड़ा मुश्किल हो गया है। प्रत्येक पत्रा अलग राय देता है, प्रत्येक पंडित अलग-अलग मत का समर्थन करता है। यह पश्चिमी विचारों के संघर्ष का परिणाम है। आज की इस छोटी-सी सभा का कोई भी पंडित यह बात ठीक-ठीक नहीं समझ रहा है। एकादशी व्रत का यह झगड़ा सारडा ऐक्ट से कम ख़तरनाक नहीं है, बाबू भगवानदास के प्रस्तावित कानून से कम उद्वेगजनक नहीं है। अगर ये क़ानून भारतीय संस्कृति को हिला सकते हैं तो यह झगड़ा और भी अधिक हिला देगा।

लेकिन भारतीय संस्कृति क्या सचमुच ऐसी कमज़ोर नींव पर खड़ी है, कोई एक ऐक्ट, कोई एक क़ानून और कोई एक विचार-विनिमय उसे हिला दे? मैं समझता हूँ, नहीं। मेरे सामने छः हज़ार वर्षों की और सहस्रों योजन विस्तृत देश की विशाल संस्कृति खड़ी है, उसके इस वृद्ध शरीर में ज़रा भी बुढ़ापा नहीं है, वह किसी चिरनवीन प्रेरणा से परिचालित है। उसके मस्तिष्क में सहस्रों वर्ष का अनुभव है; लेकिन थकान नहीं है, उसकी आँखों में अनादि तेज झलक रहा है पर आलस्य नहीं है! वह अपूर्व शक्ति और अनंत धैर्य को अपने वक्षःस्थल में वहन करती आ रही है। उसने अपने विराट् परिवर्तनशील दीर्घ जीवन में क्या-क्या नहीं देखा है? कुछ और देख लेने में उसे कुछ भी झिझक नहीं, कुछ भी हिचक नहीं है। जो लोग इस तेजोमय मूर्ति को नहीं देख सकते वही घबराते हैं, मैं नहीं घबरा सकता।

शास्त्र-चर्चा अब भी चल रही थी। मैं सोचने लगा—क्या यह ज़रूरी नहीं है कि सभी पंचांगवाले एकमत होकर एक ही तरह का निर्णय करें? शायद नहीं। क्योंकि हमारा देश एक विचित्र परिस्थिति में से गुज़र रहा है। वह पुराना रास्ता छोड़ने को बाध्य है, किन्तु नया रास्ता अभी मिला नहीं। वह कुछ पुराने के मोह में और कुछ नये के नशे में

भूल रहा है। किसी दूसरे के दिखाये रास्ते से जाने की अपेक्षा खुद रास्ता ढूँढ़ लेना अच्छा है। चलने दो, इन भिन्न-भिन्न मतों को, इन भिन्न भिन्न पक्षों को, भारतीय जनमत स्वयमेव इनमें से अच्छे को चुन लेगा। इस दृष्टि से इस सभा का बड़ा महत्व है। यह भटके हुए लोगों का राह खोजने का प्रयास है। यह अच्छा है।

—— ——

१६

ज़ब कि दिमाग खाली है

जब कि दिमाग खाली हो और दिल भरा हुआ हो, तब शास्त्र-चर्चा अच्छी नहीं लगती। मेरी अवस्था आज ऐसी ही है। अभी उस गठीले बदनवाले पठान युवक को देख चुका हूँ। हींग बेचने आया था। विराट शरीर, सौम्य मुख, निर्भय नेत्र और 'कुछ परवा नहीं' चेहरा। बोला—"बाबूजी, उस ऊँची कोठी वाले बंगले में कौन रहता है ?" उसका मतलब 'उत्तरायण' से था। फिर बिना जवाब पाए ही पूछ बैठा—"वह हिन्दू तो नहीं जान पड़ता, बाबू! क्या मुसलमान है ?"

मैंने जवाब दिया—"नहीं"।

"ईसाई है ?"

"नहीं"।

"मुसलमान भी नहीं, ईसाई भी नहीं ?"

"हाँ"

"तो क्या हिन्दू है ?"

"कह सकते हो।"

सवाल गुरुदेव के बारे में पूछे जा रहे थे। मैं अन्यमनस्क-भाव से जवाब दे रहा था। पठान युवक मेरी उदासीनता से कुछ रूठ-सा गया। अब व्यर्थ की बात न पूछ कर उसने काम की बात पूछी—

"वह हींग तो खाता होगा, बाबू ?"

"मैं क्या जानूँ !"

उसने अधिक रुकना उचित नहीं समझा। सलाम करके चलता बना। पर मेरे कानों पर अब भी उसके शब्द रेंग रहे हैं—"मुसलमान भी नहीं, ईसाई भी नहीं, तो क्या हिन्दू है ?" इस अभागे देश में जो मुसलमान भी नहीं, ईसाई भी नहीं, वह हिन्दू होता है। यह पठान-युवक पाणिनि और यास्क का वंशज है, पर चूँकि वह मुसलमान है, इसलिए वह हिन्दू नहीं। इसके पूर्वजों ने वैदिक साहित्य के अनमोल अंशों का संपादन किया था; पर चूँकि वह मुसलमान है, इसलिये वह हिन्दू नहीं और इसलिए उसके लिए वह साहित्य कुफ्र है।

पाणिनि की सन्तान आज हींग बेचती है, क्योंकि वह हिन्दू नहीं है; और जो हिन्दू नहीं, उसके लिए अपने पूर्वजों की सर्वश्रेष्ठ वस्तुएँ भी त्याज्य हैं। यह विचित्र युक्ति है। अफसोस मैं नहीं करता। हिन्दू कहलानेवाले जीवों की बात कम विचित्र नहीं है, कभी-कभी तो ऐसी विचित्र बातें दुनिया के किसी भी कोने में नहीं मिल सकतीं। यहाँ लोगों को कुत्ते-बिल्ली से भी बदतर माना जाता है, क्योंकि वे हिन्दू होते हैं। यहाँ विधवाओं को फुसलाया जाता है और गर्भपात भी कराया जाता है, क्योंकि वे हिन्दू हैं। यहाँ वेश्याओं को मन्दिर में ले जाया जाता है, पर सती अन्त्यज-रमणियों को प्रवेश नहीं करने दिया जाता,

क्योंकि वे हिन्दू हैं। यहाँ अन्याय को न्याय कह कर चला दिया जा सकता है। इस समाज के भीतर इतनी दुर्बलताएँ, इतनी अव्यवस्थाएँ, इतने मिथ्याचार हैं कि यह समाज मरने को बाध्य है। हिन्दू माने—हिन्दूभावाभाव! पुराने जमाने के अपोहवादी फिलासफरों का मत था कि किसी पदार्थ को अभाव के रूप में ही बताया जा सकता है। अर्थात् घट का सच्चा परिचय यह है कि जो घट के अभाव का अभाव है। पठान युवक ने आज मेरे दिमाग के अपोहवादी दार्शनिक को उत्तेजित कर दिया। मैं सोचता हूँ कि हिन्दुओं का परिचय अभाव के रूप में ही दिया जा सकता है। लेकिन यह भी कैसे मान लिया जाय? शास्त्रों, पुराणों, स्मृतियों, स्तोत्रों और कर्मकाण्डों के विधि-निषेधों के भरे इन पोथों को हम अभाव कैसे मान लें? काव्यों, नाटकों, चम्पुओं, आख्यायिकाओं और कथाओं के अमरलोक को निर्माण करने वाली इस जाति को अभाव कैसे मान लें?

लेकिन जब दिमाग खाली हो और दिल भरा हो, तो शास्त्र-चर्चा रुचती नहीं। नहीं तो, जिस जाति ने एक बार वंक्षुतट से महाशोण तक का एकच्छत्र राज्य किया था, जिसकी संस्कृति महा-पर्वतों को लांघ कर और महा-समुद्रों को तैरकर भी विजय-ध्वजा फहरा सकी थी, जिसकी विजय-वाहिनी पूर्वापर समुद्रों के भीतर सिंहनाद करती रही, उसके विषय में इतना चिन्तित हो जाने की कोई जरूरत नहीं। यह ठीक है कि पाणिनि की सन्तान आज हींग बेचती है और कुमारजीव के सगे-सम्बन्धी आज सीमान्त के हिन्दुओं की बहू-बेटियों का व्यवसाय करते हैं, और इस बात को भी कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि कालिदास की विहार-भूमि में आज एक ऐसी सभ्यता (या बर्बरता) का ताण्डव हो रहा है, जो चित्त को मथे बिना नहीं रह सकता, फिर भी भरोसा यह है कि वह रक्त बचा तो है। आज नहीं तो कल वह अपना प्रभाव फैलाएगा ही। लेकिन मैं दूसरी ही बात सोच रहा हूँ। कहते हैं 'फलेन परिचीयते वृक्षः'—अर्थात् दरख्त की पहचान फल से

होती है। आज जो हिन्दुओं की दुरवस्था है, वह है तो उसी बहु-विघोषित समृद्धि–कालीन सभ्यता का परिणाम। कैसे कहूँ कि वह अच्छी थी, जबकि उसका परिणाम स्पष्ट ही बुरा नजर आ रहा है?

समृद्धि–काल! सचमुच ही वह समृद्धि का युग था। उज्जयिनी के सौध–वातायनों से झाँकते हुए चन्द्रबदनों के अलकार्पित रक्ताशोक और श्रवणदत्त कर्णिकार अब भी भूले नहीं हैं, सिप्रा की चटुल कुवलय-प्रेक्षि दृष्टि की मोहिनी अब भी सद्योदृष्ट स्वप्न की भाँति मदमत्त कर रही है, हिमालय के कुंजर–बिन्दु–शोण भूर्जत्वक् अब भी किन्नर वधुओं के अनङ्ग लेखों की याद दिला देते हैं, अलका के अलक्तकांकित मार्ग अब भी कचोट रहे हैं सचमुच ही वह समृद्धि का काल था। और उसी समृद्ध विलास के बीच-बीच से कुभा और सिन्धु के तट पर हूण-वाहिनियों का हुङ्कार और आर्यों का असफल प्रतिरोध; पंचनद से साकेत तक आतंक-ध्वस्त जनपद का विकल कोलाहल और फिर दुर्धर्ष-दमन में कृत-संकल्प विक्रमादित्य का भीम गर्जन, सभी साफ दीख रहा है, साफ सुनाई दे रहा है।

मगध और अवन्ती की केन्द्रीय शक्ति और नागरिक समृद्धि सचमुच बेजोड़ थी। उस नागरिक के एक हाथ में तलवार थी और दूसरे में प्रिया के रभसालिंगन से पीड़ित कालागुरु मंजरी की प्रतिच्छबि। उसकी एक आँख से आग बरसती थी और दूसरी से मदिरा। परन्तु उसके जनपद पंगु थे। पौरों और जानपदों का यह अन्तर निरन्तर बढ़ता गया। एक के लिए काव्य और काम-सूत्र लिखे गये, दूसरे के लिए पुराण और स्मृतियाँ। एक विलासिता की ओर खिंचता गया, दूसरा शास्त्र–वाक्यों की ओर। एक रस का आश्रय बनता गया, दूसरा मज़ाक और अवहेला का विषय। खाई बढ़ती गई। हूणों ने इसका फायदा उठाया, शकों ने फायदा उठाया, तातारों ने फायदा उठाया, मुसलमानों ने फायदा उठाया, अंग्रेजों ने फायदा उठाया और खाई बढ़ती ही गई, बढ़ती ही गई, बढ़ती ही गई। आज वह छरहरे बदन का पठान युवक सहज ही कह गया कि 'मुसलमान

भी नहीं, ईसाई भी नहीं, तो क्या हिन्दू है?' मैं बार बार सोच रहा हूँ। खाई क्या और भी बढ़ती नहीं जा रही है? मगर शास्त्रों को इससे कोई मतलब नहीं। और मुझ में इतना साहस नहीं कि इस प्रसंग पर नये सिरे से सिर खपाऊं। जब दिमाग खाली हो और दिल भरा हुआ हो, तो इतना ही सोच लेना क्या गनीमत नहीं है?

—['सचित्र भारत' १९३९]

——— ———

१७

हमारी संस्कृति और साहित्य का सम्बन्ध

हिन्दी में सभ्यता और संस्कृति शब्द नये हैं। इनका असली अर्थ समझने के लिए अंग्रेज़ी के 'सिविलिजेशन' और 'कल्चर' शब्द की जानकारी आवश्यक है। वस्तुतः सभ्यता और संस्कृति के धातुगत अर्थ इन शब्दों के व्यवहारिक अर्थ के स्पष्ट करने में विशेष सहायक नहीं होंगे। अंग्रेज़ी में 'सिविलिजेशन' शब्द एक सामाजिक परिस्थिति का बोधक है। 'सिविलिजेशन' से सामाजिक व्यवस्था के चार उपादानों का ज्ञान होता है—(१) आर्थिक व्यवस्था, (२) राजनीतिक संगठन, (३) नैतिक परम्परा और (४) ज्ञान एवं कला का अनुशीलन। अस्तव्यस्तता, सशंकता और अरक्षणीयता का जहाँ अन्त होता है, 'सिविलिजेशन' या सभ्यता वहीं से शुरू होती है। क्योंकि जब भय का भाव दब जाता है और मनुष्य की कुतूहल वृत्ति और रचनात्मक प्रकृति

बंधनहीन होती है, तभी मनुष्य पशु सुलभ प्राकृतिकता से ऊपर उठकर समझौते और सहानुभूति के जीवन की ओर अग्रसर होता है। किसी जाति या समाज की सभ्यता की पूर्णता इस बात से जानी जा सकती है कि उक्त समाज या जाति के व्यक्ति कहाँ तक अस्तव्यस्तता और सशंकता से मुक्त हो सके हैं।

सभ्यता का आन्तरिक प्रभाव संस्कृति है। सभ्यता समाज की बाह्य व्यवस्थाओं का नाम है, संस्कृति व्यक्ति के अन्तर के विकास का। सभ्यता की दृष्टि वर्तमान की सुविधा-असुविधाओं पर रहती है, संस्कृति की भविष्य या अतीत के आदर्श पर; सभ्यता नजदीक की ओर दृष्टि रखती है, संस्कृति दूर की ओर; सभ्यता का ध्यान व्यवस्था पर रहता है, संस्कृति का व्यवस्था से अतीत पर; सभ्यता के निकट कानून मनुष्य से बड़ी चीज है, लेकिन संस्कृति की दृष्टि में मनुष्य कानून के परे है; सभ्यता बाह्य होने के कारण चंचल है, संस्कृति आन्तरिक होने के कारण स्थायी। सभ्यता समाज को सुरक्षित रखकर उसके व्यक्तियों को इस बात की सुविधा देती है कि वे अपना आन्तरिक विकास करें, इसीलिए देश की सभ्यता जितनी ही पूर्ण होगी, अर्थात् उसकी व्यवस्था जितनी ही सहज होगी, राजनीतिक संगठन जितना ही पूर्ण होगा, नैतिक परम्परा जितनी ही विशुद्ध होगी और ज्ञानानुशीलन की भावना जितनी ही प्रबल होगी, उस देश के वासी उसी परिणाम में सुसंस्कृत होंगे। इसीलिए सभ्यता और संस्कृति में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। परन्तु ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसका यह अर्थ नहीं है कि सभ्यता और संस्कृति दो परस्पर विरोधी चीजें हैं। जिस प्रकार पुस्तक के पन्ने के दो पृष्ठ आपाततः एक दूसरे के विरुद्ध दिखते हुए भी वस्तुतः एक दूसरे के पूरक हैं, उसी प्रकार सभ्यता और संस्कृति भी एक दूसरे के पूरक हैं इन दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है कि कभी-कभी एक के अर्थ में दूसरे का प्रयोग पंडित जन तक कर दिया करते हैं। कभी-कभी अपने देश की संस्कृति के नाम पर असत्य और अर्धसत्य सिद्धान्तों का समर्थन किया जाता है। और,

और तो और, अपने देश की संस्कृति के नाम पर किसी अन्य देश की सभ्यता, धर्म, दर्शन और संस्कृति पर भद्दे आक्षेप भी किए जाते हैं, पर ये बातें संस्कृति के विरुद्ध हैं। कोई भी सुसंस्कृत आदमी—अगर वह सचमुच सुसंस्कृत है—किसी असत्य या अर्धसत्य सिद्धान्त का इसीलिये समर्थन नहीं कर सकता कि उसे उसके पूर्वजों ने मान लिया था। औरों की कुत्सा तो वह कर ही नहीं सकता। विजित जाति के व्यक्तियों में जातीय चेतना प्रबल होती है, तो प्रायः अपने देश की संस्कृति के नाम पर वे विजेता की संस्कृति का मजाक उड़ाया करते हैं। इटली में ऐसा ही हुआ था, भारतवर्ष में ऐसा ही हो रहा है। यह स्वाभाविक है। आधुनिक भारतीय साहित्य में ऐसी अनेक बातों का समर्थन भारतीय संस्कृति के नाम पर किया जा रहा है, जिसके लिए पर्याप्त चिन्तन की आवश्यकता होती है। भारतवर्ष का शीर्ष स्थानीय समालोचक बड़े-बड़े यूरोपियन दार्शनिकों की युक्ति का अवतरण करते हुए इतना कह कर सारा तर्क समेट लेता है कि भारतीय संस्कृति इन बातों को पसन्द नहीं करती। हिन्दी के दो विद्वानों में महीनों तक एक मनोरंजक विवाद चलता रहा, जिसका केन्द्रीय विषय भारतीय संस्कृति का समर्थन माना था। दोनों ही पंडित दो विरोधी सिद्धान्तों को भारतीय संस्कृति के अनुकूल सिद्ध करना चाहते थे, और इस चाहने का अर्थ यह था कि जो कुछ वे कह रहे हैं, वही ठीक है। यदि इस बात का पक्का सबूत दिया जा सके कि कोई सिद्धान्त भारतीय संस्कृति के अनुकूल है, तो उसका श्रेष्ठ होना निर्विवाद मान लिया जाता है; पर यह क्या अच्छी बात है? क्या भारतीय होने से ही कोई चीज ऊँची और अभारतीय होने से ही नीची हो जाती है? क्या यह भारतीय श्रोता के राष्ट्रीय भावावेश को उत्तेजित करके ज्ञान की ओर से उसे उदासीन कर देना नहीं है? देखा जाय।

२

भारतीय संस्कृति का अर्थ क्या है? जैसा कि पहिले ही बताया जा चुका है सभ्यता शब्द की भाँति संस्कृति शब्द भी अंग्रेज़ी के 'कल्चर'

शब्द के तौल पर नया गढ़ लिया गया है। स्वयं 'कलचर' शब्द भी बहुत पुराना नहीं है। कहते हैं, अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध प्रबन्ध-लेखक बेकन ने इस शब्द को 'मानसिक खेती' के अर्थ में प्रथम बार प्रयोग किया था। जो हो, भारतीय संस्कृति शब्द हिन्दुस्थान में नया है और अन्य अनेक बातों की तरह इसका इस अर्थ में प्रयोग करना भी हमने विदेशियों से सीखा है। पुराना 'संस्कृति' शब्द इस नये अर्थ में पहले प्रयुक्त नहीं होता था। हमारे वर्तमान शासकों के जात-भाई जब पहले-पहले इस महादेश में आए, तो उन्हें यह देश असभ्य-सा लगा। सभी चीजें अस्त-व्यस्त-सी नजर आईं। जब धीरे-धीरे इनका परिचय अधिक घनिष्ठ हुआ, तो उन्होंने देखा कि यहाँ अदालत और फौज तो हैं, पर भीतरी और बाहरी आशंकाओं से प्रजा की रक्षा नहीं हो रही है; विद्वान और धार्मिक तो हैं, पर विद्या और धर्म साधारण जनता तक नहीं पहुँचे हैं। अत्यन्त निम्न समाज में विद्या या ज्ञान बहुत-कुछ पशुओं के 'इन्सटिङ्क्टिव' ज्ञान की तरह है और धर्म अन्ध-विश्वास के रूप में। आर्थिक व्यवस्था अत्यन्त विषम है। धनी और राजे-महराजे तो हैं, पर बड़े-बड़े पैमाने पर उद्योग-धन्धों का एकदम अभाव है। गान-वाद्य-नृत्य आदि से ये एकदम अनभिज्ञ तो नहीं हैं, पर इस चीज की पहुँच बहुत थोड़े लोगों में ही है। इन बातों से उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि यह देश असभ्य तो नहीं है; पर सभ्य भी नहीं है। असल में यह अर्ध-सभ्य है। जिन लोगों ने इस बात को जरा सहानुभूति-पूर्ण भाषा में लिखा, उन्होंने लिखा कि भारतवर्ष रहस्यमय है—'मिस्टिक' है! संयोगवस इन विदेशियों ने हमारी दुर्बलता का लाभ उठा लिया। वे राजा हुए। दोष और गुण सब में होते हैं। उनमें भी हैं; पर एक बात में वे अतुलनीय निकले। उनकी ज्ञानपिपासा बड़ी उत्कट साबित हुई। उन्होंने राज्य-भार हाथ में लेते ही इस देश को समझने की कोशिश की। भारतीय इतिवृत्त के विद्यार्थी से यह तथ्य छिपा नहीं है कि उन्हें इस विषय में विषम बाधाओं का सामना करना पड़ा; कितनी बार उन्हें धोखा खाना पड़ा;

पर वे निराश न हुए । वेद के नाम पर एक भलेमानस ने एक जाली पुस्तक दे दी ! अशोक की लिपि को एक काशीवासी ने पाण्डवों के गुप्त वनवास का विवरण-पत्र बनाकर पढ़ दिया ! यह ध्यान देने की बात है कि आज से डेढ़ सौ वर्ष पहले ब्रह्मी या खरोष्ट्र लिपि को पढ़नेवाला एक भी पंडित नहीं मिला था । सब-कुछ विदेशियों ने ही आरम्भ किया था । ईंट-पत्थरों की स्तूपीभूत जीर्णता में से अध्यवसायियों ने भारतीय सभ्यता का उद्घाटन शुरू किया ।

अथक परिश्रम के फल-स्वरूप जो-कुछ ईंट-पत्थर आविष्कृत हुए, उनके बल पर देखा गया भारतीय सभ्यता का उज्जवल रूप ! चकित भाव से विदेशियों ने कहा—यह है भारतवर्ष ! वेदों को—आर्य भाषाओं के सर्व प्रथम लिखित ग्रन्थों को—जिसने देखा, उसीने एक बार आश्चर्य-मुद्रा से पूर्व की ओर ताका, और अन्त में मोक्षमूलर भट्ट ने संसार को एक नई बात से चौंका दिया । उन्होंने देखा कि सम्पूर्ण यूरोप, ईरान और भारतवर्ष में एक ही भाषा बोली जाती है ! इसके बोलने वालों के पूर्वज निश्चय ही एक स्थान से सर्वत्र फैले होंगे ! जाति का—मेरा मतलब 'रेस' से है—नाम संस्कृत भाषा के एक शब्द को लेकर दिया गया । वह शब्द है 'आर्य'। आर्य—संसार की सर्वश्रेष्ठ जाति !

भारतवर्ष में आत्म-चेतना जाग रही थी । मोक्षमूलर भट्ट ने जिस शब्द का इतना जगद्व्यापी विज्ञापन किया था, वह हमारा था, उसके वाचक हम भी थे । हमारी आत्म-चेतना ने इसे और भी साफ अर्थ में लिया—आर्य शब्द के वाच्य केवल हमी हैं । बाद में आर्य समाज के सुसंगठित प्रचार ने इस शब्द को और भी व्यापक बना दिया । वेदों को मानने वाला आदमी आर्य समाज की परिभाषा में आर्य हुआ । मोक्षमूलर की व्याख्या जाति-मूलक थी, आर्य समाज की व्याख्या धर्ममूलक हुई । हमने अत्यन्त गर्व के साथ अनुभव किया कि हम आर्य हैं, हमारी सभ्यता आर्य-सभ्यता है, हमारी संस्कृति आर्य-संस्कृति है, हमारी नस नस में आर्य-रक्त प्रवाहित हो रहा है । इस गर्वानुभूति के

साथ-ही-साथ ज्ञात या अज्ञात भाव से हम सदा सोचते रहे—हम वही आर्य हैं, जो संसार की सर्वश्रेष्ठ जाति है। हमारी चिन्ता सर्वश्रेष्ठ चिन्ता है। हमारी संस्कृति सर्वोत्तम संस्कृति है। जो कुछ इसके भीतर नहीं, वह ठीक नहीं, वह ग्राह्य नहीं!

३

ज्यों-ज्यों ज्ञान पिपासुओं का उद्योग अग्रसर होता गया, त्यों त्यों पूर्वतर मतों का संशोधन भी होता गया। मोक्षमूलर भट्ट की परम विज्ञापित आर्य जाति अब उतनी आकर्षक नहीं रही। नृतत्त्व–विशारदों ने शीघ्र ही पता लगाया कि आर्य-भाषा बोलने वाली सभी जातियाँ आर्य नहीं हैं। इधर भारतवर्ष की सभ्यता भी सम्पूर्णतः आर्य सभ्यता नहीं है। आर्य इस देश में इसी प्रकार नवागन्तुक थे, जिस प्रकार शक, हूण आदि अन्यान्य विदेशी जातियाँ समय समय पर आई और अपने सारे आचार–विचार और विश्वासों के साथ यहीं की हो रहीं। भारतीय संस्कृति डेल्टा पर जमे हुए अनेक बालुकास्तरों की भाँति नाना साधनाओं और संस्कृतियों के योग से बनी है। आर्यों के आने के पहले इस देश में सभ्यतर द्रविड़-जाति बस रही थी। राजनीतिक रूप में विजित होने पर भी उनकी संस्कृति विजयी हुई। उपनिषदों का बहुधा–विज्ञापित अध्यात्मवाद आर्य की अपेक्षा आर्येतर अधिक है। वर्तमान भारतवर्ष का धर्म–मत अधिकांश में आर्येतर है। सरलता और ओजस्विता के कारण आर्य-भाषा की जीत हुई; पर उसके सौन्दर्य और सरसता व्यंजक रूप के लिए आर्येतर जातियों का ऋणी होना ही पड़ेगा। भारतीय दर्शन अनेकांश में आर्येतर सिद्धान्तों से प्रभावित हुआ है।

परन्तु सबसे अधिक आर्येतर-संश्रव साहित्य और ललित-कलाओं के क्षेत्र में हुआ है। अजन्ता में चित्रित, साँची, भरहुत आदि में उत्कीर्ण चित्र और मूर्तियाँ आर्येतर सभ्यता की समृद्धि के परिचायक हैं। महाभारत और कालिदास के काव्यों की तुलना करने से जान पड़ेगा कि दोनों दो चीजें हैं। एक में तेज है, दृढ़ता है और अभिव्यक्ति का वेग है,

तो दूसरे में लालित्य है, माधुर्य है और व्यंजना की छटा है । महाभारत में आर्य उपादान अधिक है, कालिदास के काव्यों में आर्येतर । जिन लोगों ने भारतीय शिल्प शास्त्र का अनुशीलन किया है, वे जानते हैं कि भारतीय शिल्प में कितने आर्येतर उपादान हैं और काव्यों तथा नाटकों में उनका कैसा अद्भुत प्रभाव पड़ा है । पता चला है कि साँची भरहुत आदि के चित्रकार यक्षों और नागों की पूजा करने वाली एक सौन्दर्य-प्रिय जाति थी, जो सम्भवतः उत्तर भारत से लेकर आसाम तक फैली हुई थी । बहुत-सी ऐसी बातें कालिदास आदि कवियों ने इन सौन्दर्य-प्रेमी जातियों से ग्रहण की, जिनका पता आर्यों को न था । कामदेव और अप्सराएँ उनकी देव देवियाँ हैं, सुन्दरियों के पदाघात से अशोक का पुष्पित होना उनके घर की चीज है, अलकापुरी उनका स्वर्ग है—इस प्रकार की अन्य अनेक बातें उनसे और उन्हीं की तरह अन्यान्य आर्येतर जातियों से महा कवि ने ली हैं ।

भारतीय नाट्यशास्त्र, कहते हैं, आर्यों की विद्या नहीं है । शुरू में से एक कथा में बताया गया है कि ब्रह्मा ने नाट्यवेद नामक पाँचवें वेद की सृष्टि की थी । अगर आर्यों के वेदों से इसका कुछ भी सम्बन्ध होता तो पंडितों का अनुमान है, इस कथा की जरूरत न हुई होती । वास्तव में भारतीय नाटक पहले केवल अभिनय रूप में ही दिखाए जाते थे । उनमें भाषा का प्रयोग करना आर्य संशोधन या परिवर्द्धन है ।

इस प्रकार मूल में भारतीय संस्कृति कई बलवती सभ्यताओं के योग से बनी । आर्य-द्राविड़ और यक्ष-नाग सभ्यता की त्रिवेणी से इस महाधारा का आरम्भ हुआ । बाद में अन्य अनेक सभ्य, अर्धसभ्य और अल्पसभ्य जातियों की संस्कृतियाँ, धर्म-मत आचार परम्परा और विश्वास इसमें घुसते गए । भारतीय ज्योतिष, जो हमारी संस्कृति के निर्माण का एक जबरदस्त अंग है, बहुत-कुछ यवनों (ग्रीकों) बर्बरों (बैबिलोनियनों), असुरों (असरियनों) के विश्वास से प्रभावित है । बाल-गोपाल की पूजा, विश्वास किया जाने लगा है कि, जाटों गूजरों और अहीरों की पूर्वज किसी

घुमक्कड़ जाति की देन है। मध्ययुग की भारतीय संस्कृति एक हद तक फारस के सूफियों तथा अन्यान्य मुसलमानी पीरों के धर्म-मत से प्रभावित हुई थी। इस युग की चित्रकला संगीत-विद्या और नृत्यकला तो निश्चित रूप से आर्येतर उपादानों से समृद्ध हुई है।

पर ये सारी बातें भारतवर्ष की प्रकृति को देखते हुए एक भयंकर विरोधाभास-सी नजर आएँगी। जिस सभ्यता के मूल में ही वर्जन-शीलता है, उसने विदेशी बातों को इतना अधिक आत्मसात् किया है, यह बात विश्वास के योग्य नहीं जान पड़ती। सहस्र-सहस्र उपजातियों, सम्प्रदायों और टोलियों में बहुधा विभक्त इस देश से एक ही बात सत्य दीखती है—परम्परा से चिपटे रहना। जहाँ हजारों वर्ष से एक साथ वास करने वाली जाति के हाथ का छुआ पानी भी ग्रहणीय न समझा जाता हो वहाँ विदेशी संस्कृति की अदला-बदली एक असम्भव-सी धारणा है। यह कैसे मान लिया जाय कि गर्वीली आर्य-जाति के वंशधरों ने उन लोगों के धर्म-विश्वास और आचार परम्परा को भी अपनाया है, जिसे वे अपनी भाषा सुनने के योग्य नहीं समझते थे।

वस्तुतः यह अभी का दृश्यमान विरोध ही सारी भारतीय संस्कृति के निर्माण में सहायक हुआ है। जैसा कि बताया गया है सभ्यता और संस्कृति एक ही वस्तु नहीं है। जहाँ हजारों छोटी-मोटी जातियों की सामाजिक व्यवस्था, नैतिक परम्परा, विचित्र आचार-विचार को प्रश्रय देनेवाली सभ्यता है वहीं योग दृष्टि या समन्वयात्मिका संस्कृति भी सम्भव है। भारतीय संस्कृति ने भेद की समस्या को उस ढंग से नहीं सुलझाया है जिस ढंग से अमेरिका में सुलझाया गया है। अमेरिका-प्रवासी यूरोपियों ने वहाँ के आदिम अधिवासियों को बेदर्दी के साथ कुचल दिया। उनका अस्तित्व ही नहीं रहने दिया। जो सभ्यता सबको पीसकर एक कर देना चाहती है, उसके प्राण में बहुत्व हैं, उसके रक्त में भेद-भाव और घृणा है। भारतीय संस्कृति के प्राण में एकत्व है, उसके रक्त में सहानुभूति है। यही कारण है कि आज इस देश में सहस्राधिक समाज एक दूसरे को

बाधा न पहुँचाते हुए भी अपनी विशेषताओं के साथ जीवित हैं। भारतीय संस्कृति ने सदा-सर्वदा समन्वय के रूप में समस्या का समाधान किया है।

वैदिक युग से लेकर ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी तक निरन्तर समन्वय की चेष्टा ही भारतीय संस्कृति का इतिहास है। कर्म-प्रधान वैदिक धर्म के साथ जब वैराग्य-प्रधान अध्यात्मवादी आर्येतरों का संघर्ष हुआ, तो इस संस्कृति ने बड़ी शीघ्रता के साथ मानव जीवन को चार आश्रमों में बाँटकर समन्वय कर लिया। आर्यों का स्वर्ग और आर्येतरों का मोक्ष तथा पुनर्जन्म-सिद्धान्त इस संस्कृति में दूध-चीनी की तरह घुल गए। भयंकर विद्रोही बुद्धदेव एक दिन अवतारवादियों के मन्दिर में आ जमे। कबीर, नानक, दादू, अकबर, राममोहन आदि का प्रयत्न समन्वय का प्रयत्न था। हठात् उन्नीसवीं सदी में एक नई समस्या आ उपस्थित हुई। यह बात भारतीयों के निकट अपरिचित थी। इस समस्या को उन्होंने कभी देखा सुना न था। इस समस्या का नाम है 'नेशनलिटी'। इसको हिन्दी में नाम दिया गया है 'राष्ट्रीयता'।

४

पश्चिम की यांत्रिक राष्ट्रीयता जब पहले पहल इस राष्ट्रीयता-रहित देश में आई, तब यहाँ वालों ने उसे ठीक नहीं समझा। एक आदमी राजा हो सकता है, वह किसी वर्ग-विशेष के आदमियों के ऊपर कृपा, क्रोध आदि भी कर सकता है, नहीं भी कर सकता है। यह बात तो ये समझ सकते थे, किन्तु समूचे देश का देश राजा हो सकता है, यह बात कुछ अजीब सी लगी। पहले कुछ कौतूहल और भय, फिर संभ्रम और सन्देह की दृष्टि से उसे देखते गए; जब अच्छी तरह से देखा, तो उसका रहस्य मालूम हुआ। व्यक्ति ने संघात के सामने अपने को पराजित अनुभव किया। भारतवर्ष ने पहली बार सम्मिलित भाव से एक ही मंच पर खड़े होने का प्रयत्न शुरू किया। इस राष्ट्रीयता-रहित देश को राष्ट्र वेश में सज्जित होना पड़ा। लेकिन समस्या का यह ऊपरी रूप था। ऐसा मालूम हुआ था कि अपने प्राचीन आचार-विचारों का अर्थ-हीन

गट्ठर कन्धे पर ढोते हुए भी हम राष्ट्र-निर्माण कर सकते हैं। इससे हमारी परम्परा-समागत रूढ़ियों के आहत होने का भय एकदम नहीं है; पर वास्तव में ऐसा हुआ नहीं। समस्या केवल राजनीति तक ही सीमित नहीं थी।

पिछली शताब्दी में कई ऐसे युगान्तरकारी आविष्कार पश्चिमी देश में हुए, जिनसे राष्ट्र नीति में आमूल परिवर्तन अनिवार्य हो गया। प्रेस ने ज्ञान को सुलभ कर दिया, वाष्प-यन्त्रों ने दूरी कम कर दी और चिकित्सा-सम्बन्धी आविष्कारों ने जीवन को ज्यादा सुरक्षित बना दिया। इनमें परस्पर एक-दूसरे का बड़ा गहरा सम्बन्ध है। समाचारपत्र, जो बाद में प्रेस के साथ एकार्थक हो गये, जहाँ ज्ञान-संकलन करने लगे, वहीं मुस्तैदी के साथ राज-शक्ति अपनी धाँधली के साथ भी अपना शानदार कारवाँ हाँक सकती थी; पर वाष्पयानों ने शत्रु के आक्रमण की इतनी सम्भावना पैदा कर दी कि जनता की उपेक्षा उसके लिये घातक सिद्ध होती, इसीलिये अनिच्छा पूर्वक इसी राज-शक्ति ने जन-शक्ति को आत्म-समर्पण कर दिया। इसका अवश्यम्भावी परिणाम वही था, जिसे राष्ट्रीयता कहा जाता है। इस राष्ट्रीयता ने जनता की सुरक्षा का प्रबन्ध करना शुरू किया। सुरक्षितता का अर्थ है सभ्यता की समृद्धि। यह सुरक्षा नाना रूपों में लोगों को मिलने लगी—चिकित्साशास्त्र के द्वारा, पुलिस और कोर्ट के द्वारा म्यूनिसिपल व्यवस्थाओं के द्वारा, ज्ञान–प्रसार के वाहक प्रेसों के द्वारा और इसी प्रकार अन्यान्य विभागों के द्वारा। सुरक्षा के साथ ही व्यवसाय–वाणिज्य ने जोर पकड़ा और फलतः अर्थ का असम विकीरण शुरू हो गया। आर्थिक व्यवस्था जटिल होती गई और जीवन–संग्राम कठिन से कठिनतर होता गया। राष्ट्रीयताहीन देशों में उपनिवेश बसे, धनी-देशों में संगठित लूटपाट जारी हुई।

उधर वैज्ञानिक आविष्कार सूद दर सूद की तरह बढ़ते गए। ग्रामोफोन, सिनेमा आदि ने बड़ी आसानी से एक देश की रीति-नीति आचार–व्यवहार को अन्यत्र वहन करना शुरू किया। कुछ पेट की लड़ाई से,

कुछ केन्द्रच्युत मस्तिष्कों की उमंग से सम्मिलित परिवार-प्रथा शिथिलतर होती गई। विवाह करना एक भार समझा जाने लगा और बहुत दिनों की सांसारिक रूढ़ि एकाएक जोर से हिल गई। स्त्री-स्वतन्त्रता का आन्दोलन विकट रूप से पुरुष-स्वतन्त्रता का प्रतिद्वन्द्वी हो उठा। इन और इन्हीं की तरह की अनेक विचार-गत उथल-पुथलों के बीच में वर्तमान सभ्यता का रथ-घर्घर भारतवर्ष के रूढ़िप्रिय कानों को सुनाई दिया। जिसने सुना, उसी ने कहा—यह भारतीय संस्कृति के विरुद्ध है, यह अग्राह्य है।

लेकिन यह रंग-ढंग भारतीय संस्कृति के ही विरुद्ध नहीं था—ग्रीक, रोमन या अन्य कोई प्राचीन संस्कृति भी इससे उसी प्रकार चौकन्नी हो सकती थी और कई जगह हो भी चुकी थी; लेकिन जिस प्रकार तत्तत् संस्कृति के सुसंस्कृत ग्रहण करने को वाध्य हुए थे, यहाँ वालों को भी उसी प्रकार वाध्य हुए बिना कोई उपाय नहीं है। अन्तर इतना ही है कि जो बात उन्हें दो सौ वर्ष में धीरे-धीरे ग्रहण करनी पड़ी थी, वही बात हमें बीस वर्षों में करनी पड़ रही है—तेजी से, हड़बड़ी में। स्वाभावतः ही हमें कष्ट ज्यादा हो रहा है। यहाँ भी वही प्रेस, वही वाष्प और विजली के यन्त्र, वही सिनेमा और थियेटर, वही सब-कुछ-बल्कि उनसे कई अंशों में सुधरे हुए और समृद्ध हैं, फिर वही बातें, जो उन देशों में घट चुकी हैं, यहाँ घटने से क्यों बाज आयँगी ?

वैज्ञानिक युग के पहले भी भारतवासी यही चीज थे, जो आज हैं, पर परिस्थितियों में परिवर्तन होने के कारण उनका मानसिक संस्कार भी बदलता जा रहा है। पुराने जमाने में परम्परा-प्राप्त रहन-सहन से अभ्यस्त होने के कारण परम्परा-समागत विश्वास और आचार के वहन में जो सुविधा प्राप्त थी, अब वह शिथिल से शिथिलतर होती जा रही है। काम के उद्देश्य से अलग-अलग स्थानों में बास करने के कारण पारिवारिक आचार-परम्परा विशेष भाव से आहत हुई है। नई शिक्षा के परिचय से विश्वास भी ढीला होता जा रहा है। कम से कम शहरों

में बसी जनता उतने अर्थहीन आचार-विचार के जंजालों से नहीं दबी है, जितने उनके ग्रामीण पूर्वज थे। ग्राम भी पहले-जैसे नहीं रहे, क्योंकि गाँव के बहुतसे आदमियों का शहरों में आकर काम पाना उन्हें ग्रामीण परम्परा से विछिन्न कर देता है।

४

अपनी साहित्यिक और सांस्कृतिक जल्पनाओं में आजकल हम लोग पूर्व और पश्चिम शब्द का व्यवहार करने लगे हैं। यह एक मनोरंजक बात है कि भारत के प्राचीन मनीषी इन शब्दों का व्यवहार नहीं करते थे। पूर्व रहस्यमय है, आध्यात्मिक है, धर्म प्राण है; पश्चिम व्यवसायी है, 'मैटर-आफ-फैक्ट' है; आधिभौतिक है—इत्यादि बातें हम सुना करते हैं, प्रयोग भी किया करते हैं; लेकिन पूर्व और पश्चिम की विभाजित रेखा कहां है? फ्रांस पश्चिम में है, जर्मनी पूर्व में; जर्मनी पश्चिम में है, रूस पूर्व में। अमेरिका पश्चिम में है या जापान? कौन बतायेगा? असल में पश्चिम का अर्थ कुछ-कुछ आधुनिक और व्यवसायी रूप में होने लगा है और पूर्व का प्राचीन और अस्त-व्यस्त अर्थ में। विशेष आर्थिक और धार्मिक परिस्थितियों के कारण यूरोप में एक प्रकार की विचारगत क्रान्ति हुई है यह बात यूरोप के पूर्वस्थ प्राचीन देशों में नहीं हो सकती; पर सदा के लिए उसे उन देशों में आने से कौन रोक सकता है? जापान—सुदूर पूर्व—से बढ़कर व्यवसायी,'मैटर-आफ-फैक्ट' और आधिभौतिक देश कौन है?

असल बात यह है कि मनुष्य का मन सर्वत्र एक है। राजनीतिक आर्थिक आदि कारणों से उस एक मन के प्रकाशन का बाह्य आवरण चाहे जितना ही भिन्न क्यों न हो, भीतर में वह एक है। नृतत्त्व-विशारदों के आधुनिक शोध इसके पक्के सबूत हैं। एकही प्रकार के मनोभाव पारिपार्श्विक अवस्थाओं के योग से नाना प्रकार के समाजिक और धार्मिक आचरणों में बदल गए हैं। यह मनोरंजक सत्य है कि मानव जाति की बहुधा भिभक्त धार्मिक भावनाओं, सामाजिक रूढ़ियों, सौन्दर्य और शील की धारणाओं का मूल कारण सर्वत्र एक ही मनोभाव रहे हैं। ज्यों-त्यों

मनुष्य अपनी विशेष-विशेष टोलियों में आबद्ध होकर आगे बढ़ता गया, त्यों-त्यों नई-नई और भिन्न-भिन्न परिस्थिति के योग से उसके बाह्य आचार बदलते गए। इन्हीं प्राचीनता-प्राप्त आचारों ने धार्मिकता, राष्ट्रीयता, जातीयता आदि का आकार ग्रहण किया। इन्हीं प्राचीनता-प्राप्त आचारों ने—इन्हें रूढ़ि कह सकते हैं—हमारे दैनिक आचार पूजा-पाठ, धर्म-कर्म विचार-व्यवहार पर अपनी छाप लगा दी है। इन ब्रह्म विशेषताओं ने अर्से से मनुष्य और मनुष्य के बीच एक दीवार खड़ी रखी है। हम लड़े हैं, झगड़े हैं, मरते-मारते रहते हैं, एक-दूसरे को लूटते-खसोटते रहे हैं और अभिमान के साथ अपने विशेष वर्ग और विशेष टोली का जय-निर्घोष करते रहे हैं।

समय ने पलटा खाया है। वैज्ञानिकों ने मानवीय प्रकृति और विश्व-प्रकृतिका निर्लिप्त भाव से विश्लेषण किया है। देखा गया है कि जगत में एकही शाश्वत मानव-मस्तिष्क काम कर रहा है। आज तक संसार गलतफहमी का शिकार बना रहा है। आज उसके पास इतने अधिक साधन हैं कि पुरानी गलतफहमी अगर उसी वेग से चलती रही, तो उसका परिणाम भयंकर होगा। शायद संसार में एक जाति को दूसरी जातियों के समझने की इतनी सख्त जरूरत कभी नहीं पैदा हुई थी। समझने का रास्ता अब भी बहुत साफ नहीं हुआ है। दो सेहियाँ अगर अपने शरीर के काँटों को खड़ा करके परस्पर को आलिंगन करना चाहें तो आलिंगन हो चुका! अगर दूसरी जातियों के समझने के लिये हमने अपनेको अप ो सारे बाह्याचारों के जंजाल में बन्द करके रखा, तो समझना असम्भव है।

अगर हमने गाल्सवर्दी या बर्नर्ड शा को समझने के लिये पूर्व और और पश्चिम के कृत्रिम विभाजन को अपने मन से निकाल न दिया, तो हम केवल दो साहित्यिकों को ही समझने में ही गलती नहीं करेंगे, समूची जाति को गलत समझेंगे। कृत्रिम विभाजन कहने से मेरा मतलब यह है कि हम व्यर्थ के इस पचड़े में न पड़ जायँ कि कोई चीज उसमें कहाँ

तक भारतीय या अभारतीय, आध्यात्मिक या अनाध्यात्मिक है। चीज अगर अच्छी हैं, तो वह भारतीय हो या न हो, स्वीकार है; आध्यात्मिक हो या नहीं, ग्राह्य है; लेकिन अंग्रेजी समाज और भारतीय समाज में कुछ अन्तर जरूर है। इन अन्तरों को—बाह्याचरण-सम्बन्धी अन्तरों को हमें नहींभूलना चाहिए क्योंकि इनके भूल जाने से चीज को समझने में भूल हो सकती है। गाल्सवर्दी एक विशेष प्रकार के बाह्याचार में पले आदमी को लक्ष्य करके लिख रहे हैं, इसलिए उनको समझने के लिये उनका लक्ष्यीभूत आचरण याद रखना चाहिए।

पूछा जा सकता है कि अगर भारतीयता, आध्यात्मिकता या ऐसी ही कुछ चीज अच्छी चीज के निर्वाचन की कसौटी नहीं है, तो वह फिर कौनसी चीज है जो अच्छी चीज के निर्वाचन की सहायक है। यह एक दूसरा विषय है। इसे छेड़ने से एक समूची समस्या को छेड़ना होगा। साधारणत: मनुष्य का मन ही अच्छी चीज के निर्णय की कसौटी है; लेकिन यह उत्तर भी अस्पष्ट है क्योंकि मनुष्य का मन कहना बात को साफ-साफ कहना नहीं हुआ। किसी का मन विहारी-सतसई को पसन्द करता है; किसी का दुलारे-दोहावली को। कौनसा प्रमाण है और कौनसा अप्रमाण। वास्तव में मन कहने से हम किसी एक आदमी के मन को नहीं समझना चाहते। संसार की प्रवृद्ध मनीषा ने औसत संस्कृत सहृदयों की आनन्दानुभूति को एक विशेष सीमा तक पहुँचाया है। मन से मतलब उसी स्टैण्डर्ड मन से है।

लेकिन फिलहाल हम उधर नहीं विचार करना चाहते। हमारा मूल वक्तव्य यही है कि हमें पूर्व या पश्चिम, या भारतीय-अभारतीय आदि कृत्रिम विभाजनों के अर्थ-हीन परिवेष्टनो से अपने को घेर नहीं रखना चाहिए। अगर ज़रूरत हो, तो तथा कथित आध्यात्मिक आदि विशेषणों से विशिष्यमाण आचारों और मनोविकारों को अतिक्रमण करके भी विश्वजनीन सत्य को जानने की कोशिश करनी चाहिए। जिन महापुरुषों

ने क्षुद्र-वृहत् परिवेष्टनों को तोड़कर भारतीय साहित्य और संस्कृति को समझने की कोशिश की है, उनसे अगर ग़लती भी हुई हो, तो उनका मज़ाक नहीं उड़ाना चाहिए। भारतीय संस्कृति—और कोई भी अन्य संस्कृति (अगर संस्कृति शब्द को विशेषण बिना कहा ही न जा सके!)—विश्वजनीन सत्य की विरोधी नहीं है।

१८

सहज भाषा का प्रश्न

'विश्वभारती पत्रिका' में नई समस्याओं के संबंध में मेरा जो विनम्र वक्तव्य प्रकाशित हुआ था तथा जो इस पुस्तक में लेख के रूप में अन्यत्र दिया गया है उसकी ओर कई मित्रों का ध्यान गया है। अधिकांश लोगों ने उस वक्तव्य का समर्थन करके मुझे उत्साहित किया है, कुछ लोगों ने नई शंकाएं भी उठाई हैं। एक प्रश्न मुझसे यह पूछा गया है कि क्या मैं सहज भाषा का पक्षपाती नहीं हूँ। मैं इस सम्बन्ध में अपना विचार प्रकट कर देना अपना कर्तव्य समझता हूँ। ये पंक्तियां इसीलिये लिखी जा रही हैं।

निस्सन्देह मैं सहज भाषा का पक्षपाती हूँ। परन्तु सहज भाषा मैं उसे समझता हूँ जो सहज ही मनुष्य को आहार-निद्रा आदि पशु-सामान्य धरातल से ऊँचा उठा सके। सहज भाषा का अर्थ है, सहज ही महान् बना देनेवाली भाषा। वह भाषा, जो मनुष्य को उसकी सामाजिक

दुर्गति, दरिद्रता, अंधसंस्कार और परमुखापेक्षिता से न बचा सके, किसी काम की नहीं है, भले ही उसमें प्रयुक्त शब्द बाज़ार में विचरने-वाले अत्यन्त निम्नस्तर के लोगों के मुख से संग्रह किए गए हों। अनायास लब्ध भाषा को मैं सहज भाषा नहीं कहता। तपस्या, त्याग और आत्म-बलिदान के द्वारा सीखी हुई भाषा सहज भाषा है। बाज़ार की भाषा को, मोटे प्रयोजनों की भाषा को, मैं छोटी नहीं कहता परन्तु मनुष्य को उन्नत बनाने के लिये जो भाषा प्रयोग की जायगी वह उससे भिन्न होगी। कबीरदास ने बड़ी व्यथा के साथ कहा था कि 'सहज' 'सहज' तो सभी कहते फिरते हैं परन्तु सहज क्या है, यह बिरले ही जान पाते हैं। सहज वे हैं जो सहज ही विषय-त्याग कर सके हैं—

सहज सहज सब कोइ कहै, सहज न बूझै कोइ।
जिन सहजैं विषया तजी, सहज कहीजै सोइ।

सहज ही विषय-त्याग करना सहज काम नहीं। कबीरदास ने इस रहस्य को समझा था। वे जानते थे कि सहज वस्तुतः व्यक्ति हुआ करता है, वस्तु नहीं। दाता के सहज होने से ही दान सहज होता है। जो लोग सहज भाषा लिखना चाहते हैं उन्हें स्वयं सहज बनना पड़ेगा। तपस्या और त्याग से मनुष्य 'सहज' होता है और उसी हालत में वह सहज भाषा का प्रयोग कर सकता है। भाषा तो साधन-मात्र है। साध्य मनुष्य का सर्वाङ्गीण विकास है। सड़क पर चलनेवाला आदमी क्या बोलता है यह बात भाषा का आदर्श नहीं होना चाहिए। देखना चाहिए कि क्या बोलने या न बोलने से मनुष्य उस उच्चतर आदर्श को प्राप्त कर सकता है जिसे संक्षेप में 'मनुष्यता' कहा जाता है। केवल संस्कृत या अरबी बोलने से वह उद्देश्य सिद्ध नहीं होगा और केवल अशिक्षित या अपढ़ लोगों की बोलियों से बटोरे हुए शब्दों से भी नहीं होगा। ये सभी आवश्यक हो सकते हैं, ये सभी अनावश्वयक हो सकते हैं। जो व्यक्ति मनुष्य-रूपी भगवान् के हाथों अपने आपको निःशेष भाव से दान नहीं कर सका उसे सहज भाषा के विषय में कोई सिफ़ारिश करने का हक़ नहीं है। यह

बात हम रोषवश नहीं कह रहे हैं। हमारा विश्वास है कि ऐसा करनेवाले मनुष्य का कोई उपकार नहीं कर सकते क्योंकि वे बाहरी ज्ञान उगला करते हैं। शास्त्र वे नहीं जानते यह बात मैं नहीं कहता, पर शास्त्रगत सत्य उनका अपना सत्य नहीं होता।

दुनिया में ज्ञान-विज्ञान की चर्चा बहुत हुई है। उसे प्राप्त करनेवाले और प्राप्त करने का प्रयत्न करनेवाले कम नहीं हैं परन्तु समस्त ज्ञान-विज्ञान तब तक बाहरी सत्य ही होते हैं जब तक मनुष्य उनसे यह नहीं सीखता कि परमपुरुष के प्रति – जिसकी प्रत्यक्ष मूर्ति यह दृश्यमान चराचर जगत् है—अपने आपको निःशेष भाव से समर्पण कर देना ही वास्तविक सत्य है। अपने को दान कर देने से ही समस्त ज्ञान और विज्ञान 'अपने' सत्य बनते हैं। भागवत में इसी बात को इस प्रकार कहा गया है—

धर्मार्थकाम इति योऽभिहितस्त्रिवर्ग—
ईक्षात्रयी नयदमौ विविधा च वार्ता।
मन्ये तदेतदखिलं निगमस्य सत्य।
स्वात्मार्पणं स्वसुहृदः परमस्य पुंसः ॥

भा० ७. ६. २६

अर्थात् धर्म, अर्थ, काम नाम से प्रसिद्ध जो त्रिवर्ग है उसके लिये आत्मविद्या, कर्मकाण्ड, तर्क, दण्डनीति और विविध वार्ताएँ कही गई हैं, ये सब वेद के सत्य हैं। अपना सत्य तब होता है जब मनुष्य अपने सुहृद्-स्वरूप 'परम-पुरुष' को आत्मसमर्पण कर देता है। क्योंकि अपने को दे देना ही बड़ी वस्तु है। ज्ञान-विज्ञान सब कुछ तभी सार्थक होते हैं जब मनुष्य अपने आपको अपने सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य के हाथों निःशेष भाव से दे दे। ज्ञान-विज्ञान बड़ी चीज़ हैं—वे भागवत के शब्दों में 'निगमस्य' हैं, परन्तु मनुष्य जब तक अपने को ही नहीं दे देता तब तक वे बड़ी चीज़ें भारमात्र हैं। उनसे मनुष्य का छोटा 'ममत्व' उद्धृत होता है, उसमें धन, मान और यश की लिप्सा उत्तेजित होती है, जब तक अपने आपको ही दे देने का संकल्प मनुष्य नहीं करता तब तक अपना आपा ही समूचे,

ज्ञान-विज्ञान का मालिक नहीं बन जाता है। जिसने अपने को ही नहीं दे दिया वह ज्ञान का क्या पाठ पढ़ाएगा? प्रह्लाद ने ठीक ही कहा था कि वही वस्तुएँ मनुष्य की अपनी होती हैं जिन्हें वह निःशेष भाव से प्रभु को समर्पण कर दिए होता है—यद्यज्जनो भगवते विदधीत मानं तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः (भा. ७. ९. ११)। भाषा के विषय में भी यही बात सत्य है। सरकारी नौकरियों की ऊँची तनख़ाहें पाने के बल पर ही जो लोग भाषा के सहजत्व के विषय में फ़ैसला देने के अभ्यस्त हैं, वे अगर इतनी-सी बात समझ लेते तो हमारा काम बहुत आसान हो जाता। जिन लोगों ने जनता-जनार्दन की सेवा के लिये अपने आपको थोड़ा भी नहीं दिया वे जब सहज भाषा का उपदेश देने लगते हैं, तो अवश्य ही वाग्देवी अपना सिर धुन लेती होंगी। जिन लोगों ने कभी भी अपने आपको नहीं दिया वे भाषा-विषयक सलाह देने के अयोग्य और अनधिकारी हैं। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने बहुत पहले गाया था कि 'अरे ओ मेरे मन क्यों तूने दोनों हाथ फैला रखे हैं, हमें दान नहीं चाहिए, दाता चाहिए। जब तू सहज ही दे सकेगा तभी सहज ही ले भी सकेगा'—

> केन रे तोर दु हात पाता, दान तो ना चाइ, चाइ-ये दाता
> सहजे तुइ दिबि यखन, सहजे तुइ सकल लबि।
> ओरे मन सहज हबि॥

अपने को सहज ही दे देने की योग्यता कठोर तप और संयम से प्राप्त होती है। कबीरदास और तुलसीदास को यह योग्यता प्राप्त थी, हरिश्चन्द्र और प्रेमचन्द को प्राप्त थी; क्योंकि उन्होंने यह सत्य समझ लिया था कि मनुष्य जितना निःशेष भाव से दे सकता है उतना ही उसका अपना सत्य होता है।

जब मनुष्य सहज हो जायगा तो वह संस्कारों से मुक्त होकर सोचने की अनाविल दृष्टि पा सकेगा। वह दृष्टि कैसी होगी, यह मैं नहीं कह सकता, क्योंकि यह तर्क से समझने की बात नहीं है। इतिहास हमें थोड़ा ही बताकर रह जाता है। उसके बल पर हम केवल अनुमान कर

सकते हैं। इतना तो आसानी से समझ में आ जाता है कि जिन कारणों से भाषा विषयक प्रश्न आज हमें व्याकुल किए हुए हैं वे नितान्त ऊपरी हैं। जब किसी विचार में उत्तेजना का स्थान महत्त्वपूर्ण हो उठे तो मानना चाहिए कि संयम का अभाव उत्पन्न हो गया है। उत्तेजना मनुष्य के अंध संस्कारों का वर्तमान रूप है। जब हम यह सुनकर उत्तेजित हो जाते हैं कि अमुक व्यक्ति संस्कृत या अरबी-फ़ारसी से भरी हुई भाषा सुनना या बोलना पसंद करता है तो वस्तुतः हमारा रोष भाषा के ऊपर नहीं होता उस भाषा के बोलने या सुनने वाले के प्रति होता है। यह बात सिद्ध करती है कि हम उस मनुष्य से प्रेम नहीं करते। यदि हम इस देश के प्रत्येक मनुष्य को प्रेम करते तो हम उसकी रुचि और संस्कारों को भी समझने का प्रयत्न करते। यह सत्य है कि इस देश में करोड़ों मनुष्य हैं जो संस्कृत की परम्परा से घनिष्ठ भाव से परिचित होने पर अंधसंस्कारों के बोझ से मुक्त हो सकते हैं और आत्मगौरव अनुभव कर सकते हैं और यह भी सत्य है कि इस देश में लाखों व्यक्ति हैं जिन्हें अरबी-मिश्रित भाषा से आत्मगौरव का अनुभव होता है। इसलिये संस्कृत या अरबी से चिढ़ने से हमारा प्रेम-दारिद्र्य सूचित होता है। हमें सावधानी से विचार करने पर मालूम पड़ेगा कि नाना प्रकार की ऐतिहासिक परम्पराओं के भीतर से गुजरने के कारण भिन्न भिन्न जनसमूह के लिये भिन्न भिन्न प्रकार की भाषा आवश्यक है। यदि हम अपने परम लक्ष्य को सदा ध्यान में रखें तो इन ऊपरी बातों से चिन्तित या उत्तेजित होने की कोई वजह नहीं है। हमारा परम लक्ष्य मनुष्यत्व है। मध्ययुग में जिस बात को अध्यात्म कहा करते थे वही वस्तुतः इस युग का मनुष्यत्व है। मनुष्य ही भगवान का प्रत्यक्ष विग्रह है। मनुष्य बनाना ही समस्त ज्ञान-विज्ञान का लक्ष्य है। मनुष्य अर्थात पशु-सामान्य क्षुद्र स्वार्थों से मुक्त, परम प्रेम स्वरूप। जब तक हम इस मनुष्य को प्रेम नहीं करने लगते तब तक हम रंक बने रहेंगे—रंक, अर्थात् प्रवृत्तियों के गुलाम, उत्तेजनाओं

के शिकार और क्षुद्र स्वार्थों के मुहताज। प्रेम ही बड़ी वस्तु है, वही भगवान् का वास्तविक स्वरूप है। दादू ने कहा था—

बिना प्रेम मन रंक है, जांचे तीनउ लोक।
मन लागा जब सांइ सौं, भगे दरिद्दर शोक॥

मैं जब उपर्युक्त 'पण्डितों' की भाषा के विषय में शिकायत करता हूँ तो वस्तुतः मैं उनके इस प्रेम-दारिद्र्य की ही शिकायत करता हूँ। वे प्रेमहीन रंक चित्त को लेकर सहज भाषा और सामान्य संस्कृति की बात करते हैं, उनके मनमें मनुष्य के प्रति कोई सहानुभूति नहीं है और इसीलिए उनकी सारी विद्या और समूची कर्म-प्रचेष्टा व्यर्थ हो जाती है। वे स्वयं उत्तेजित होते हैं और सारे समाज को अन्याय भाव से उत्तेजित करते हैं। काश, वे समझ सकते कि भावी मनुष्य के लिये वे कैसा कांटा बो रहे हैं।

इस देश में हिन्दू हैं, मुसलमान हैं, छूत हैं, अछूत हैं, अरबी है, फारसी है, संस्कृत है, पाली है—विरोधों और संघर्षों की विराट वाहिनी है। परन्तु इन सबसे बड़ा सत्य यह है कि इस देश में करोड़ों मनुष्य हैं। समस्त विरोधों और संघर्षों को छापकर विराज रहा है यह 'मनुष्य'। यदि हम इसीको ध्यान में रखकर समस्याओं का समाधान खोजें तो हमें आश्चर्य होगा कि संस्कृत भी हमारी सहायता कर रही है और अरबी फारसी भी। केवल उचित स्थान पर उचित वस्तु का प्रयोग करना चाहिए। सब अंगों पर एक ही दवा लेपनेवाला वैद्य अनाड़ी समझा जाता है। रोगी को स्वस्थ करना ही वैद्य का लक्ष्य होना चाहिए। एक ही दवा को हाथ पर भी मलना और आंख में रगड़ना कोई तुक की बात नहीं हुई। बौद्ध दार्शनिक वसुबंधु ने कहा था कि अस्थान में प्रयुक्त अमृततुल्य औषध भी विष हो जाता है—औषधं युक्तमस्थाने गरलं ननु जायते। जिस प्रकार औषध रोगमुक्ति का साधन है वैसे ही भाषा भी मनुष्य को उसकी दुर्गति से बचाने का साधन है। सामान्य औषध एक खास सीमा तक काम कर सकता है, सामान्य भाषा का क्षेत्र भी सीमित

है। बंगाल के हिन्दुओं और पेशावर के पठानों के लिये एक सामान्य भाषा की कल्पना हास्यास्पद है। परन्तु जिस व्यक्ति के चित्त में मनुष्य के प्रति असाधारण प्रेम है वह दोनों ही जगह अपना काम निकाल लेगा। शान्तिनिकेतन में प्रत्येक बंगाली ने ख़ान अब्दुल गफ़्फ़ार ख़ां की भाषा समझी। जहां कहीं शब्द समझ में नहीं आया वहीं उनकी सहज प्रेम मुद्रा ने शब्द कोष का काम किया। महात्माजी की हिन्दी अटट देहाती भी समझ जाता है। कारण स्पष्ट है। इन महापुरुषों ने अपने को निःशेष भाव से देकर अपने को मनुष्य मात्र का 'अपना' बना लिया है। प्रेम बड़ी वस्तु है।

भाषा वस्तुतः वक्तव्य वस्तु का वाहन है। हम क्या कहना चाहते हैं यही मुख्य बात है, कैसे कहना चाहते हैं, यह बाद की बात है। प्रायः आए दिनों इस प्रकार का तर्क सुनाई देता है कि हम कोष बनाकर और नये 'हिन्दुस्तानी' प्रत्ययों की रचना कर जब लिखना शुरू कर देंगे तो भाषा में वे प्रयोग आगे चलकर निश्चय ही गृहीत हो जांयगे। भाषा के इतिहास से इस प्रकार के उदाहरण खोज खोज कर निकाले जाते हैं कि किसी लेखक के चला देने मात्र से कितने ही प्रयोग भाषा में चल गए हैं। यही 'दान' की मनोवृत्ति है। 'दाता' बनने की योग्यता पाए बिना 'दान' देना ग्रहीता का अपमान करना है, उसे तुच्छ समझना है। जो दान ग्रहीता के प्रति अश्रद्धा रखकर और अपने भीतर उद्धत अहमिका को पोसकर दिया जायगा वह निष्फल होगा। शास्त्र ने कहा है श्रद्धया देयम्—श्रद्धापूर्वक देना चाहिए, ह्रिया देयम्—अपने अंदर उद्धत गर्व न रखकर लज्जापूर्वक देना चाहिए। 'हमारे चला देने से चल जायगा' वाली मनोवृत्ति में दोनों का तिरस्कार है। वह दग्धबीज की भांति—यह उपमा शास्त्रकार ने ही बताई है—निष्फल होने को बाध्य है। चलाता वह है जिसने दीर्घ तप और कठिन संयम के बाद चलाने की योग्यता प्राप्त की होती है।

कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक कविता लिखी है। उसका हिन्दी भावार्थ और मूल कविता दोनों ही नीचे दिए जा रहे हैं।

"तुम फूल नहीं खिला सकोगे, नहीं खिला सकोगे। जो कुछ भी कहो और जो कुछ भी करो, जितना भी उसे उठाकर पकड़ो और व्यस्त होकर रात दिन उसके वृन्त पर जितनी भी चोट मारो--तुम फूल नहीं खिला सकोगे, नहीं खिला सकोगे।

"बारबार नज़र गड़ा कर तुम उसे म्लान कर सकते हो, उसके दलों को तोड़कर धूल में रौंद सकते हो, तुम लोगों के तुमुल कोलाहल से यदि वह कली किसी प्रकार मुँह खोल भी दे---तो रंग नहीं आएगा, तुम उससे सुगंधि नहीं बिखरवा सकते। तुम फूल नहीं खिला सकोगे, नहीं खिला सकोगे।

तोरा केउ पारबिने गो पारबिने फुल फोटाते।
यतइ बलिस यतइ करिस्, यतइ तारे तुले धरिस्
व्यग्र हये रजनी दिन आघात करिस बोंटाते।
तोरा केउ पारबिने गो० ॥
दृष्टि दिये बारे बारे, म्लान करते पारिस् तारे,
छिंड़ते पारिस् दल गुलि तार धूलाय पारिस् लोटाते,
तोदेर विषम गण्डगोले, यदिइ वा से मुखटि खोले,
धरबे ना रङ—पारबे ना तार गंधटुकु छोटाते।
तोरा केउ पारबिने गो० ॥

"जो खिला सकता है वह अनायास ही खिला सकता है, वह फूल खिला सकता है। वह सिर्फ आंख खोलकर थोड़ा-सा देख देता है, उसके आंखों की किरण लगते ही मानों पूर्णप्राण का मंत्र उस वृन्त पर लग जाता है। जो खिला सकता है वह अनायास ही खिला सकता है, वह फूल खिला सकता है! उसकी निःश्वास लगते ही फूल मानों तुरत उड़ जाना चाहता है, अपने दलों के पंख फैलाकर हवा में झूमने लगता है, फिर तो न जाने

कितने रंग, प्राणों की व्याकुलता के समान, खिल उठते हैं और न जाने किसे बुला लाने के लिये सुगन्धि को चारों ओर दौड़ाने लगते हैं--जो खिला सकता है, वह फूल खिला सकता है !

ये पारे से आपनि पारे, पारे से फूल फोटाते।
से शुधु चाय नयन मेले, दुटि चोखेर किरन फेले,
अमनि येन पूर्ण प्राणेर, मंत्र लागे बोंटाते।
ये पारे से आपनि पारे, पारे से फुल फोटाते ॥
निःश्वासे ता'र निमेषेते फुल येन चाय उड़े येते,
पातार पाखा मेले दिये, हावाय थाके लोटाते।
रङ् ये फुटे ओठे कत, प्राणेर व्याकुलतार मतो,
येन का'रे आनते डेके गन्ध थाके छोटाते।
ये पारे से आपनि पारे० ॥

भाषा चला देने का व्रत लेनेवाले इस सत्य को याद रखते तो अच्छा होता।

जो लोग साहित्य-सृष्टि करके, भाषा के माध्यम से, जनता रूपी जनार्दन की सेवा करना चाहते हैं वे महान् हैं। उनका रास्ता प्रेम का रास्ता है। हमारा यह देश नाना प्रकार की जातियों-उपजातियों में विभक्त संप्रदायों और पंथों में उद्भ्रान्त, शतच्छिद्र कलश के समान है। इसे सावधानी से प्रेमपूर्वक समझने की आवश्यकता है। ज्ञान इस पर लादना नहीं है। जितना भी मधुर रस आप इसे क्यों न दें यदि सब समय इसके स्वरूप को ध्यान में न रखेंगे तो उसके बहकर गिर जाने का भय है। भाषा की साधना इनको इनकी वर्तमान हीनता से उद्धार करने की साधना है। जिन लोगों ने यह व्रत लिया है उनकी जिम्मेवारी बड़ी है। उन्हें अपने छोटे स्वार्थों और रंजित संस्कारों से मुक्त होने की आवश्यकता है। वे प्रेमवारि बरसाने वाले मेघ के समान हों, यही वांछनीय है। परन्तु मेघ से पानी की ही उम्मीद की जाती है, वज्र की नहीं। जिन लोगों को

संयोगवश भाषा और साहित्य के माध्यम से जनता की सेवा करने का सुयोग मिला है उनसे हमारी नम्र प्रार्थना है कि वे यह न भूलें कि वे जनता की सेवा के लिये हैं। मेघ की शोभा यही है कि वह अपनेको निःशेष भाव से दे दे। संस्कृत के कवि ने ठीक ही कहा था कि हे मेघ, पर्वत-कुल को आश्वस्त करके, दावाग्नि की ज्वाला से दहकती हुई वनभूमि को शान्त करके, नाना नद-नदियों को पूर्ण करके जो तुम रिक्त हो गए यही तुम्हारी उत्तम श्री है—अपनेको सबके मंगल के लिये लुटा देना ही बड़ी सम्पत्ति है।—

आश्वास्य पर्वतकुलं तपनोष्मतप्तं
दुर्दाववह्निविधुराणि च काननानि।
नानानदीनदशतानि च पूरयित्वा
रिक्तोऽसि यज्जलद सैव तवोत्तमश्रीः।

साहित्यकार की भी यही शोभा है कि वह अपने सर्वोत्तम से मनुष्य की सेवा करके रिक्त हो जाय, शून्य हो जाय। शून्यता ही पूर्णता है, रज्जब जी ने कहा है कि शून्य की शोभा देखना हो तो ताराभरे आसमान को ओर देखो। शून्यरूपी इस वृक्ष में नक्षत्रों के फल लगे हैं पर कैसी कमाल की पूर्णता है कि ये इतने नक्षत्र जहाँ के तहाँ खड़े हैं, कोई भी छितरा नहीं रहा है—सुंन्य तरीवर उडुगण क्यों हूँ बींटत नाहिं!

दीर्घ साधना के बाद मनुष्य 'पशु' से विकसित होकर मनुष्य बना है। उसकी पशुसामान्य मनोवृत्तियाँ आज भी बनी हुई हैं। उनको उत्तेजित करने के लिये विशेष परिश्रम की ज़रूरत नहीं होती। ज़रा-सा छूने से ही वे झनझना उठती हैं। उन आहार-निद्रा प्रभृति पशु-सामान्य मनोरागों को बार बार उत्तेजित करना कोई बड़े कृतित्व का काम नहीं है। कृतित्व का काम है उसके संयम, त्याग और प्रेम की भावना को जगा देना। साहित्यिक यही करके धन्य होता है। आदिम युग से ही मनुष्य छोटे छोटे स्वार्थों के लिये लड़ता आया है, काम-क्रोध का गुलाम बना रहा है। अगर साहित्य सेवा का अवसर पाकर उसी लड़नेवाली प्रवृति

को उत्तेजित किया गया और उसी इन्द्रिय-परायणता को प्रश्रय दिया गया तो यह सेवा तो हुई ही नहीं, निश्चित रूप से मनुष्य का अपकार हुआ। ऐसा साहित्यकार भी मेघ ही है पर पानी बरसाने वाला नहीं वज्र बरसाने वाला! कवि ने बड़ी व्यथा से कहा था कि हे मेघ इन दावाग्नि से जलते हुए वृक्षों पर अगर पानी नहीं बरसा सकते तो कम से कम वज्र तो न गिराओ!—

> एतेषु हा तरुण मारुतधूयमान-
> दावानलैः कवलितेषु महीरुहेषु।
> अम्भो न चेज्जलाद् मुञ्चसि मा विमुञ्च
> वज्रं पुनः क्षिपसि निर्दय कस्त हेतोः!

भाषा सहज होनी चाहिए, साहित्य सहज होना चाहिए, पर सबके मूल में और सबसे बड़ी बात यह है कि भाषा और साहित्य के साधक को सहज होना चाहिए। सहज हुए बिना परम प्राप्तव्य प्राप्त नहीं हो सकता। यह परम दुर्लभ सहजत्व प्राप्त करने के लिये आदिम मनोवृत्तियों से ऊपर उठना होगा, कर्म और ज्ञान के इन्द्रियों को सन्तुष्ट करने वाले मनोरागों को वश में करना होगा और फिर अपने आपसे ही रास्ता पूछ लेना होगा। बाहर से आकर कोई रास्ता क्या बताएगा। संयत और तपोनिष्ठ आत्मा ही कार्याकार्य के निर्णय में प्रमाण है, क्योंकि वह राग और द्वेष से ऊपर उठा होता है। कबीर ने जो बात भक्तों के लिये कही है वही बात साहित्यकारों के लिये भी कही जा सकती है, क्योंकि सत्य अविभाज्य है। कबीर ने कहा है—

> चिंता चित्त निवारिये, फिर बूझिये न कोय।
> इन्द्री पसर मिटाइये, सहजि मिलैगा सोइ॥

['विश्वभारती पत्रिका:' खंड ४, अंक २.]

———